नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ५१—अंक १ [नवीन संस्करण] वैशाख-सं० २००३

'रामचरितमानस' के संवाद

श्री शंभुनारायण चौबे

'रामचरितमानस' में चार वक्ताओं की कथा का समावेश है। गोस्वामी तुलसीदास ने संत-समाज को, याज्ञवल्क्य ने भरद्वाज को, शिव ने पार्वती को और भुसुंडी ने गरुड़ को कथा सुनाई है। इन पृथक् पृथक् वक्ताओं की कथाएँ स्पष्ट होने पर भी एक दूसरे में इतनी ओत प्रोत या गुत्थमगुत्थ हैं कि साधारणतया अवगत नहीं होता कि कौन कथा कहाँ से कहाँ तक है और किस स्थान पर कौन वक्ता बोल रहा है।

बालकांड के आदि में गोस्वामी तुलसीदास ने कथा-परंपरा इस प्रकार बताई है—

१।३०।३ संभु कीन्ह यह चरित सुहावा। बहुरि कृपा करि उमहि सुनावा।
सोइ सिव कागभुसुंडिहि दीन्हा। रामभगत अधिकारी चीन्हा।
तेहि सन जागबलिक पुनि पावा। तिन्ह पुनि भरद्वाज प्रति गावा।

× × × ×

औरौ जे हरिभगत सुजाना। कहहिं सुनहिं समुझहिं बिधि नाना।
मैं पुनि निज गुर सन सुनी कथा सो सूकरखेत।
समुझी नहिं तसि बालपन तब अति रहेउँ अचेत ॥

भाषाबद्ध करब मैं सोई।

गोस्वामी जी कहते हैं कि मैं उसी परंपरा से चली आई कथा को भाषा में कहूँगा—

१।३०।१ जागबलिक जो कथा सुहाई। भरद्वाज मुनिबरहिं सुनाई।
कहिहौं सोइ संबाद बखानी। सुनहु सकल सज्जन सुख मानी।

१।४३।१ अब रघुपति पद पंकरुह हिअ धरि पाइ प्रसाद।
कहौं जुगल मुनिवर्य कर मिलन सुभग संबाद ॥

याज्ञवल्क्य जी कहते हैं—

१।४७।८ ऐसेइ संसय कीन्ह भवानी। महादेव तब कहा बखानी।
कहौ सो मति अनुहारि अब उमा संभु संबाद।
भएउ समय जेहि हेतु जेहि सुनु मुनि मिटिहि बिषाद ॥

शिव जी कहते हैं—

१।१२०।११ सुनु सुभ कथा भवानि रामचरितमानस बिमल।
कहा भुसुंडि बखानि सुना बिहग नायक गरुड़ ॥

७।५५।१० ऐसिय प्रस्न बिहगपति कीन्ह काग सन जाइ।
सो सब सादर कहिहौं सुनहु उमा मन लाइ ॥

भुसुंडी जी कहते हैं—

[illegible]।११ रामचरित सर गुप्त सुहावा। संभु प्रसाद तात मैं पावा।
तोहि निज भगत राम कर जानी। ताते मैं सब कहेउँ बखानी।

उपर्युक्त अवतरणों से स्पष्ट है कि गोस्वामी जी ने याज्ञवल्क्य-भरद्वाज-संवाद से, याज्ञवल्क्य ने शिव-पार्वती-संवाद से, शिव ने भुसुंडी-गरुड़-संवाद से और भुसुंडी ने शिव-पार्वती-संवाद से अपनी कथा की संगति मिलाई है। शिव भुसुंडी से और भुसुंडी शिव से कथाक्रम की संगति बतलाते हैं। इस रज्जुपाशन्याय का समाधान यह है कि 'रामचरितमानस' के मुख्य रचयिता तो शंकर ही हैं।[1] अन्य लोग तो उसके प्राप्तकर्ता मात्र हैं, कर्ता नहीं। सती-दहन के पश्चात् शिव जी घूमते घूमते सुमेरु पर्वत पर गए और वहाँ 'मराल तनु' धरकर उन्होंने भुसुंडी से रामकथा सुनी; इस प्रकार भुसुंडी से शिव का कथा सुनना सिद्ध होता है।[2] जब भुसुंडी जी शूद्र तन से उज्जैन गए तब शिव-शाप से इन्हें 'अघगति' मिली थी और उन्हीं के आशीर्वाद से ब्राह्मण-तन भी मिला, तब ये लोमश जी के आश्रम में गए और हठपूर्वक

१—१।३०।३ संभु कीन्ह यह चरित सुहावा।
१।३५।९ रचि महेस निज मानस राखा। पाइ सुसमउ सिवा सन भाषा।

२—देखिए रामचरितमानस, उत्तरकांड ७।५६।१—७।५८।१

रामचरित सुना[३]। इस प्रकार शिव के प्रसाद से लोमश द्वारा भुसुंडी को रामचरित सुनने को मिला—

७।११३।६ मुनि मोहिं कछुक काल तहँ राखा। रामचरितमानस सब भाखा।

'रामचरितमानस' की उपमा कैलासस्थ भौगोलिक मानसरोवर से दी गई है। दोनों के रूपक का मिलान एक मनोरंजक मीमांसा है। यहाँ केवल इतना ही कहना पर्याप्त है कि रूपक बहुत ही सुंदर, पूर्ण, विशद और सांग है। रूपक को छोड़कर जब हम कथा भाग पर आते हैं तब वक्ताओं के अनुभव, आराधना और इष्ट के अनुरूप 'रामचरितमानस' के चार घाट मिलते हैं—

१।३६।१० सुठि सुंदर संवाद बर बिरचेउ बुद्धि बिचारि।
तेइ एहि पावन सुभग सर घाट मनोहर चारि॥

तड़ाग-निर्माण की शास्त्रानुकूल विधि में बताया गया है कि दक्षिण घाट सामान्य जनता, पश्चिम घाट विशिष्ट जनता, उत्तर घाट नारी और पूर्व घाट गो, गज आदि के उपयोग के लिये होता है।

(१) 'रामचरितमानस' के चारों संवादों में से याज्ञवल्क्य-भरद्वाज-संवाद दक्षिण घाट का प्रतीक है। इसमें कर्मकांड का प्रतिपादन किया गया है। इस संवाद में देवी, देवता, गो, विप्र, तीर्थ, संत आदि सभी की प्रशंसा की गई है जिनके प्रति हिंदू-समाज पूज्य बुद्धि रखता चला आया है, और इन्हीं की कृपा एवं प्रसाद से 'मानस' के १।३७।३ 'राम सीय जस सलिल सुधा सम' की प्राप्ति कही गई है। 'रामचरितमानस' में जहाँ कर्मकांड का वर्णन है, प्रकारांतर से उसका प्रतिपादन और उसके विविध अंगों का निरूपण है, वहाँ याज्ञवल्क्य-भरद्वाज-संवाद समझना चाहिए। इस संवाद की सभी उक्तियाँ कर्मकांड को ही सिद्ध करती हैं, इसका प्राक्कथन इस बात का साक्षी है। भरद्वाज ने पूछा 'राम कवन प्रभु पूछौं तोही', इसके उत्तर में याज्ञवल्क्य ने सीधे राम-कथा न सुनाकर पहले शिव-कथा सुनाई और अंत में कहा—

१।१०४।५ सिव पद कमल जिन्हहिं रति नाहीं। रामहिं ते सपनेहु न सुहाहीं॥
बिनु छल बिस्वनाथ पद नेहू। राम भगत कर लच्छन एहू॥
प्रथमहि मै कहि सिव चरित बूझा मरम तुम्हार।
सुचि सेवक तुम्ह राम के रहित समस्त बिकार॥

(२) शिव-पार्वती-संवाद पश्चिम घाट का प्रतीक है। इसे ज्ञान-घाट कहते हैं। इसमें ज्ञान का प्रतिपादन किया गया है और विविध उक्तियों द्वारा जगत् को मिथ्या बताते हुए निर्विशेष ब्रह्म का निरूपण किया गया है।

३—देखिए वही, ७।१०५।६—७।११३।१०

इस संवाद के सभी सिद्धांत-वाक्य ज्ञान की ओर संकेत करते हैं[1] और इसकी प्रारंभिक पंक्तियाँ इस प्रकार खुलती है—

> झूठेउ सत्य जाहि बिनु जाने। जिमि भुजग बिनु रजु पहिचाने।
> जेहि जाने जग जाइ हेराई। जागे जथा सपन भ्रम जाई॥

जिस प्रकार 'महाभारत' की कथा समाप्त होने पर बच रहे अनुभव एवं ज्ञान को व्यास जी ने 'शांति पर्व' में भर दिया उसी प्रकार गोस्वामी जी ने मूल 'रामचरितमानस' कहने के उपरांत शेष ज्ञान-वार्ता शंकर-पार्वती-संवाद के रूप में उत्तरकांड में कही।

(३) भुसुंडी-गरुड़ संवाद उत्तर घाट का प्रतीक है। इसे भक्ति घाट कहते हैं। इसमें भक्ति का प्रतिपादन है, तथा 'अति अनन्य जे हरि के दासा। रटै नाम निसि दिन प्रति स्वासा' उन्हीं का इसमें प्रवेश है। इस संवाद के आमुख से अनन्यता टपकती है। कथा कहने के लिये गरुड़ का निवेदन सुनकर भुसुंडी न तो इधर उधर की भूमिका बाँधते हैं न अन्य देवी, देवताओं की वंदना करते हैं वरन् सीधे रघुनाथ जी के सामने चले जाते हैं—

> ७।६४।७ भा भुसुंडि मन परम उछाहा। लाग कहै रघुपति गुन गाहा।
> प्रथमहि अति अनुराग भवानी। रामचरित सर कहेसि बखानी॥

(४) पूर्व घाट गोस्वामी जी का है। इसे दीनता-घाट कहते हैं। कर्म, ज्ञान, उपासनारहित, अन्य उपायशून्य, सब विधिहीन प्राणियों के कल्याणार्थ इस घाट की रचना हुई है। अपने अहंभाव को गला देने पर, 'खुदबाना' को छोड़ परम भागवत हुए लोग ही इस घाट के अधिकारी होते हैं। ऐसे महात्माओं के लिये भगवान् उनका लोभ दूर करने के निमित्त कहते हैं—'अस सज्जन मम उर बस कैसे। लोभी हृदय बसै धन जैसे।' इस संवाद की सभी उक्तियाँ दीनतापूर्ण हैं। जहाँ कहीं गोस्वामी जी 'सठ' या 'मन' को संबोधित कर कुछ कहते हैं वहाँ हृदय पिघल जाता है।

इन विविध संवादों में एक ही राम-कथा कही गई है, इनमें रामचरित की एकही अविच्छिन्न धारा का प्रवाह है, इसे गोस्वामी जी ने बड़े ही सूक्ष्म,

---

१—१।११७।१ निज भ्रम नहि समुझहिं अज्ञानी। प्रभु पर मोह धरहिं जड़ प्रानी।
जथा गगन घन पटल निहारी। झाँपेउ भानु कहहिं कुविचारी।
चितव जो लोचन अंगुलि लाए। प्रगट जुगल ससि तेहि के भाए।
उमा रामविषयक अस मोहा। नभ तम धूम धूरि जिमि सोहा।
२।७२।४ गुर पितु मातु न जानौं काहू। कहौं सुभाउ नाथ पतिआहू।
जहँ लगि जगत सनेह सगाई। प्रीति प्रतीति निगम निजु गाई।
मोरे सबहिं एक तुम्ह स्वामी।

सुंदर और कलात्मक ढंग से यत्र तत्र व्यक्त किया है। चारों संवादों से छन-कर आती हुई कथा को थोड़ी देर के लिये अलग रखकर जब हम संवादों के उपक्रम और उपसंहार की ओर, श्रोता और वक्ता के प्रश्नोत्तर की ओर, उनके आपस के मेल और संकेत की ओर ध्यान देते हैं तब तुलसी का कौशल प्रकट होता है। इन सब बारीकियों पर दृष्टि डालने से दो बातें स्पष्ट होती हैं। एक तो 'रामचरितमानस' के एक दूसरे से मिले विविध कथा-प्रसंग अलग अलग बँट जाते हैं और यह अवगत होने लगता है कि कौन कथा कहाँ से प्रारंभ होकर कहाँ समाप्त हुई और दूसरे तुलसी की प्रबंधकाव्य-रचना की पटुता स्पष्ट होती है। किस कड़ी को कहाँ जोड़ना चाहिए जिसमें वह मूल कथा को आगे बढ़ाती हुई पूर्ण समन्वय और कलात्मक अवस्थान की रक्षा कर सके, इसे तुलसी खूब जानते थे।

भिन्न भिन्न संवादों में बिखरी हुई इस सामग्री को एकत्र करके अध्ययन और मनन में निम्नलिखित प्रश्नोत्तरी का संकलन सहायक होगा—

प्रश्न १ (१।५०) ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद।
सो कि देह धरि होइ नर जाहि न जानत बेद॥
१।१०८ जौं नृप तनय तो ब्रह्म किमि नारि बिरह मति भोरि।
देखि चरित महिमा सुनत भ्रमत बुद्धि अति मोरि॥

उत्तर १।११२।८ (गिरिजा सुनहु राम कै लीला...से सकर सहज सुजान।)
१।१२०

प्रश्न २ (१।१०६।४) प्रथम सो कारन कहहु बिचारी। निर्गुन ब्रह्म सगुन बपु धारी।

उत्तर १।१२०।१ (सुनु गिरिजा हरि चरित सुहाए...से...
यह सब रुचिर चरित मैं भाषा।) १।१८७।६

प्रश्न ३ (१।१०६।५) पुनि प्रभु कहहु राम अवतारा।

उत्तर १।१८७।६ (अब सो सुनहु जो बीचहिं राखा...से...
तुलसिदास के ईस।) १।१६६

प्रश्न ४ (१।१०६।५) बाल चरित पुनि कहहु उदारा।

उत्तर १।१६६।१ (कछुक दिवस बीतें यहि भाँती...से...
यह सब चरित कहा मैं गाई।) १।२०५।१

प्रश्न ५ (१।१०६।६) कहहु जथा जानकी बिबाही।

उत्तर १।२०५।१ (अगिली कथा सुनहु मन लाई...से...
तिन्ह कहँ सदा उछाह मंगलायतन रामजस।) १।३६१

प्रश्न ६ (१।१०६।६) राज तजा सो दूषन काही।

उत्तर २। श्लोक (वामांके च विभाति भूधर सुता ..से...
अवसि होइ भव रस बिरति।) २।३२५

प्रश्न ७ (१।१०६।७) बन बसि कीन्हे चरित अपारा। कहहु नाथ...
उत्तर ३। श्लोक (मूलं धर्मतरोर्विवेक जलधेः...से...
सिंधु बिना जलजान।) ५।६०
प्रश्न ८ (१।१०६।७) कहहु नाथ जिमि रावन मारा।
उत्तर ६।० (लव निमेष परवान जुग...से...
नाहिन आन अधार।) ६।१२१
प्रश्न ९ (१।१०६।८) राज बैठि कीन्ही बहु लीला। सकल कहहु संकर सुखसीला।
उत्तर ७। श्लोक (केकीकंठाभनीलं...से...
जन्म जन्म प्रभु पद कमल कबहु घटै जनि नेहु।) ७।४९
प्रश्न १० (१।११०) बहुरि कहहु करुनायतन कीन्ह जो अचरज राम।
प्रजा सहित रघुबंसमनि किमि गवने निज धाम॥
उत्तर ७।४९।२ (हनूमान भरतादिक भ्राता.. से...
मैं सब कही मोर मति जथा।) ७।५२।१
प्रश्न ११ (१।११०।१) पुनि प्रभु कहहु सो तत्व बखानी।
जेहि बिज्ञान मगन मुनि ज्ञानी।
उत्तर इस प्रश्न का उत्तर सातों काडों में यत्र तत्र बिखरा है।
प्रश्न १२ (१।११०।२) भगति ज्ञान बिज्ञान बिरागा। पुनि सब बरनहु सहित बिभागा।
उत्तर ७।११४।१५ (ज्ञान बिराग जोग बिज्ञाना.. से . देखु खगेस बिचारि)
७।१२०
प्रश्न १३ (१।११०।३) औरौ राम रहस्य अनेका। कहहु नाथ अति बिमल बिबेका।

रहस्य का अर्थ है गोप्य विषय। कथा भाग के इस स्थल को सामान्य श्रोता की साधारण बुद्धि नहीं ग्रहण कर पाती, पर इसका ऐतिहासिक संघटन होना अवश्य है। जहाँ कहीं भक्तों पर विशेष कृपा करनी होती है, अथवा उनके 'प्रपंच माया प्रबल भय भ्रम अरति उचाट' का निवारण करना होता है, वहाँ 'कृपा' अथवा इसके अन्य पर्यायवाची शब्द देकर गोस्वामी जी ने 'रामचरितमानस' के प्रायः सभी कांडों में इस स्थल का संकेत किया है, जिनकी तालिका क्रमशः इस प्रकार है —

१–१।१६२ (अद्भुत रूप बिचारी......निज आयुध भुज चारी।)
२–१।१६४।८ (कौतुक देखि पतंग भुलाना...से...
यह रहस्य काहू नहिं जाना।) १।१६५।१

३–१।२००।८ (देखि राम जननी अकुलानी...से...
यह जनि कतहुँ कहहि सुनु माई ।) १।२०१।८

४–१।२४०।४ (जिन्ह कें रही भावना जैसी...से...
तेहि तस देखेउ कोसल राऊ ।) १।२४१।८

५–१।२६०।७ (लेत चढ़ावत खैंचत गाढ़े । काहु न लखा देख सबु ठाढ़े ।)

६–१।३०५।७ (जानी सिय बरात पुर आई...से...
सिय महिमा रघुनायक जानी ।) १।३०६।३

७–२।२४३।१ (आरत लोग राम सब जाना.. से...
जिमि घट कोटि एक रबि छाहीं ।) २।२४३।४

८–३।६ क (मुनि समूह महँ बैठे सन्मुख सब की ओर ।
सरद इंदु तन चितवत मानहुँ निकर चकोर ।)

९–३।१४ (सुर मुनि सभय प्रभु देखि मायानाथ अति कौतुक करयो ।
देखहि परस्पर राम करि संग्राम रिपुदल लरि मरयो ॥)

१०–३।१७ (लछिमन गए बनहिं जब...से...
जो कछु चरित रचा भगवाना ।)

११–४।२१।१ (बानर कटक उमा मैं देखा...से...
बिस्व रूप व्यापक रघुराई ।) ४।२१।४

१२–७।५।६ (प्रेमातुर सब लोग निहारी...से...
उमा मरम यह काहु न जाना ।) ७।५।७

१३–७।७८।४ (भ्रम तें चकित राम मोहि देखा...से...
मुख बाहेर आएउँ सुनु मतिधीर ।) ७।८२

१४–७।११६ (यह रहस्य रघुनाथ कर बेगि न जानै कोइ ।
जो जानै रघुपति कृपा सपनेहुँ मोह न होइ ।)

प्रश्न १४ (१।११०।४) जो प्रभु मैं पूछा नहि होई । सोउ दयाल जनि राखहु गोई ।

उत्तर १।१६५।३ औरौ एक कहौं निज चोरी...से...
कृपा राम कै जापर होई ।) १।१६५।६

पार्वती के प्रश्न

गरुड़ के प्रश्न

(१)

सो हरि भगति काग कहँ पाई ।
बिस्वनाथ मोहि कहहु बुझाई ।
७।५३।८

(२) राम परायन ग्यानरत , गुनागार मतिधीर । नाथ कहहु केहि कारन , पायउ काग सरीर ॥ ७।५४	=	(१) ज्ञान बिरति बिज्ञान निवासा । रघुनायक के तुम्ह प्रिय दासा ॥ कारन कवन देह यह पाई । तात सकल मोहि कहहु बुझाई ॥ ७।६३।२
(३) यह प्रभु चरित पवित्र सुहावा । कहहु कृपाल काग कहँ पावा ॥ ७।५४।१	=	(२) राम चरित सर सुंदर स्वामी । पाएहु कहहु कहाँ नभगामी । ७।६३।४
		(३) नाथ सुना मैं अस सिव पाहीं । महाप्रलयहु नास तव नाहीं ॥ तुम्हहि न व्यापत काल , अति कराल कारन कवन । मोहि सो कहहु कृपाल , ज्ञान प्रभाव कि जोग बल ॥ ७।६४
		(४) प्रभु तव आश्रम आए , मोर मोह भ्रम भाग । कारन कवन सो नाथ सब , कहहु सहित अनुराग ॥ १ ७।९४

उत्तर ७।६४।१ (गरुड़ गिरा सुनि हरषेउ कागा...से...
सुनेउँ पुनीत राम गुन ग्रामा) ७।११४।७

१—पार्वती के इन तीन, तथा गरुड़ के चार प्रश्नों का समाधान उत्तरकांड के बीस दोहों में एक साथ ही किया गया है। ये प्रश्न प्रकारांतर से एक ही हैं और बने भी एक ही अवस्था में हैं; अर्थात् संपूर्ण राम-कथा सुन लेने के बाद उधर गरुड़ के हृदय में इधर पार्वती के हृदय में एक ही प्रकार की जिज्ञासा का उदय होता है जिसका समावेश उपर्युक्त प्रश्नों में है।

प्रश्न ४	(७।५४।२)	तुम्ह केहि भाँति सुना मदनारी। कहहु मोहि अति कौतुक भारी।
उत्तर	७।५५।१	(मैं जिमि कथा सुनी भवमोचनि...से... मैं जेहि समय गएउँ खग पासा।) ७।५७।१
प्रश्न ५	(७।५४।३)	गरुड़ महा ज्ञानी गुनरासी। हरि सेवक अति निकट निवासी। तेहि केहि हेतु काग सन जाई। सुनी कथा मुनि निकर बिहाई।
उत्तर	७।५७।२	(अब सो कथा सुनहु जेहि हेतू...से... नाथ कृतारथ भएउँ मैं तव दरसन खगराज) ७।६३
प्रश्न ६	(७।५४।५)	कहहु कवन बिधि भा संबादा। दोउ हरि भगत काग उरगादा।
उत्तर	७।६३।१	(सुनहु तात जेहि कारन आएउँ...से... राम रहस्य अनूपम जाना) ७।६१।८

भुसुंडी-गरुड़-संवाद[1]

प्रश्न ५	(७।११४।११)	ज्ञानहि भगतिहि अंतर केता। सकल कहहु प्रभु कृपानिकेता।
उत्तर	७।११४।१२	(सुनि उरगारि बचन सुखमाना...से... देखु खगेस बिचारि।) ७।१२०

ज्ञान—७ ११६।१ (सुनहु नाथ यह अकथ कहानी...से...
कहेउँ ज्ञान सिद्धांत बुझाई।) ७ ११६।१

भगति—७।११६।१ (सुनहु भगति मनि कै प्रभुताई...से...
जय पाइय सो हरि भगति देखु खगेस बिचारि।) ७।१२०

(गरुड़ के सप्त प्रश्न)

प्रश्न ६	(७।१२०।३)	सब तें दुर्लभ कवन सरीरा।
उत्तर	७।१२०।८	(तात सुनहु सादर अति प्रीती...से... कर तें डारि परस मनि देहीं) ७।१२०।११
प्रश्न ७	(७।१२०।४)	बड़ दुख कवन...
उत्तर	७।१२०।१३	(नहिं दरिद्र सम दुख जग माहीं।)
प्रश्न ८	(७।१२०।४)	......कवन सुख भारी।
उत्तर	७।१२०।१३	(संत मिलन सम सुख जग नाहीं।)
प्रश्न ९	(७।१२०।५)	संत असंत मरम तुम्ह जानहु। तिन्ह कर सहज सुभाव बखानहु।
उत्तर	७।१२०।१४	(पर उपकार बचन मन काया...से... बिस्व सुखद जिमि इंदु तमारी।) ७।१२०।२१

१—इस संवाद के प्रथम चार प्रश्नों का उत्तर ऊपर कहे गए शिव-पार्वती-संवाद में देखिए।

प्रश्न १० (७।१२०।६)　कवन पुन्य श्रुति बिदित बिसाला।
उत्तर　　७।१२०।२२　(परम धरम स्रुति बिदित अहिंसा।)
प्रश्न ११ (७।१२०।६)　कहहु कवन अघ परम कराला।
उत्तर　　७।१२०।२२　(पर निंदा सम अघ न गिरीसा...से...
　　　　　　　　ते चमगादुर होइ अवतरहीं।) ७।१२०।२७
प्रश्न १२ (७।१२०।७)　मानस रोग कहहु समुझाई। तुम्ह सर्बज्ञ कृपा अधिकाई।
उत्तर　　७।१२०।२८　(सुनहु तात अब मानस रोगा...से...
　　　　　　　　तब रह राम भगति उरछाई) ७।१२१।११

इस प्रसंग को कुछ लोग कर्म, ज्ञान, भक्ति आदि घाटों के रूप में न देखकर गीता के चार प्रकार के भक्तों (राम भगत जग चारि प्रकारा। १।२१।६)—आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी—के संतोषार्थ वर्णन किए गए नाम, रूप, लीला और धाम का निरूपण मानते हैं।

(१) पार्वती जी आर्त की श्रेणी में है। इन्हें लीला देखकर मोह हुआ था—

१।५०।४　चले जात सिव सती समेता। पुनि पुनि पुलकत कृपा निकेता।
　　सती सो दसा संभु कर देखी। उर उपजा संदेह बिसेखी।
　　संकर जगतबंद्य जगदीसा। सुर नर मुनि सब नावत सीसा।
　　तिन्ह नृप सुतहि कीन्ह परनामा। कहि सच्चिदानंद परधामा।
　　भए मगन छबि तासु बिलोकी। अजहुँ प्रीति उर रहति न रोकी।
　　　ब्रह्म जो ब्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद।
　　　सो कि देह धरि होइ नर जाहि न जानत बेद॥
　　अस संसय मन भयउ अपारा। होइ न हृदय प्रबोध प्रचारा।

उन्होंने प्रश्न पूछा—

१।१०८　जौं नृप तनय त ब्रह्म किमि नारि बिरह मति भोरि।
　　देखि चरित महिमा सुनत भ्रमति बुद्धि अति मोरि॥
१।१०६।३　अति आरति पूछउँ सुरराया। रघुपति कथा कहहु करि दाया॥

यह वाक्य शिव-पार्वती-संवाद के लीला-प्रकरण का उपक्रम है। शंकर जी लीला के उपासक हैं—

१।१६५।४ कागभुसुंडि संग हम दोऊ। मनुज रूप जानै नहिं कोऊ।
　　परमानंद प्रेम सुख फूले। बीथिन्ह फिरहिं मगन मन भूले।
६।८०।२　हमहूँ रहे उमा तेहि संगा। देखत राम चरित रन रंगा।

कथा सुन लेने पर पार्वती जी कहती हैं—

७।१२६　　मैं कृतकृत्य भयउँ अब तव प्रसाद बिस्वेस।
　　　राम भगति दृढ़ उपजी बीते सकल कलेस॥

लीला पक्ष के संवाद का यह उपसंहार है। पार्वती जी को लीला पक्ष में जो मोह हुआ था वह लीला के उपासक शंकर भगवान् से कथा सुन लेने पर नष्ट हो गया क्योंकि रामचरित देखने से मोह उत्पन्न होता है और उसके सुनने से 'संसय सोक मोह भ्रम' का नाश हो जाता है।

(२) गरुड़ जी जिज्ञासु की श्रेणी के हैं। इन्हें देखकर मोह हुआ था—

६।७२।११ ब्याल पास बस भएउ खरारी। स्वबस अनंत एक अबिकारी।
बंधन काटि गयउ उरगादा। उपजा हृदय प्रचंड बिषादा।
प्रभु बंधन समुझत बहु भाँती। करत बिचार उरग आराती।
ब्यापक ब्रह्म बिरज बागीसा। माया मोह पार परमीसा।
सो अवतरा सुनेउ जग माँही। देखेउँ सो प्रभाव कछु नाहीं।
भवबंधन ते छूटहिं नर जपि जाकर नाम।
खर्ब निसाचर बाँधेउ नागपास सोइ राम॥

७।५८ नाना भाँति मनहि समुझावा। प्रगट न ग्यान हृदय भ्रम छावा।

भुसुंडी जी बालरूप के उपासक हैं—

७।७४।५ इष्टदेव मम बालक रामा। सोभा बपुष कोटि सत कामा।
७।१००।१४ रामचरन बारिज जब देखौं। तब निज जन्म सुफल करि लेखौं।
७।११०।११ भरि लोचन बिलोकि अवधेसा। तब सुनिहौं निर्गुन उपदेसा।

अपने आचार्य द्वारा कथा सुन लेने पर गरुड़ की बुद्धि समाहित हो गई और हृदय में रामरूप रखकर वे अपने स्थान को गए—

७।१२५ तासु चरन सिर नाइ करि प्रेम सहित मतिधीर।
गएउ गरुड़ बैकुंठ तब हृदय राखि रघुबीर॥

(३) अर्थार्थी के रूप में गोसाईं तुलसीदास जी हैं। अर्थार्थी सुख चाहता है। 'स्वांतः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा…' इस बात का उदाहरण है। इन्होने नाम का बहुत विशद निरूपण किया है। नाम जपने का प्रभाव भी ऐसा है कि 'मिटहि कुसकट होहि सुखारी।' (१।२१।५) उपसंहार में गोस्वामी जी कहते हैं—'पायो परम बिश्राम राम समान प्रभु नाहीं कहूँ।' ७।१३०

(४) धाम के उपासक भरद्वाज जी हैं, जो अपना स्थान छोड़कर कहीं नहीं जाते। देश देशांतर से लोग उन्हीं के पास आ आकर—

१।४४ ब्रह्म निरूपन धर्म बिधि बरनहिं तत्त्व बिभाग।
कहहिं भगति भगवंत कर संयुत ज्ञान बिराग॥

अन्य मोहधारियों को अपना मोह निवारण करने के लिये अन्यत्र जाना पड़ा था—

१।१०६।२ पारबती भल अवसर जानी। गईं संभु पहँ मातु भवानी।
७।६२।१ गएउ गरुड़ जहँ बसै भुसुंडी। मति अकुंठ हरिभगति अखंडी।

परंतु भरद्वाज जी स्वयं वक्ता को ही अपने आश्रम में खींच लाते हैं और उसे इस प्रकार अचल रूप से स्थापित कर देते हैं कि उसका जाना कहीं नहीं लिखा—

१।४४।४ जागबलिक मुनि परम बिवेकी। भरद्वाज राखे पद टेकी।

भरद्वाज जी चतुर्थ प्रकार के ज्ञानी भक्त हैं—

१।४३।१ भरद्वाज मुनि बसहिं प्रयागा। तिन्हहिं राम पद अति अनुरागा।
तापस सम दम दया निधाना। परमारथ पथ परम सुजाना।

कथा सुनते इन्हें कहीं संशय या भ्रम नहीं हुआ था। ये अचल श्रोता हैं और इनके यहाँ कथा की आवृत्ति होती ही रहती है—'प्रति संबत अस होइ अनंदा' १।४४।२ कथा का आरंभ होकर अंत नहीं होता[1]।

१—'रामचरितमानस के संवाद' नामक एक विवेचनात्मक लेख श्री चंद्रबली पांडे एम० ए० का भी 'पत्रिका' के भाग १६, अंक २ (संवत् १९९२) में प्रकाशित हुआ है। महत्त्वपूर्ण होने के कारण लेख द्रष्टव्य है। इसमें रामचरितमानस के प्रबंधों और संवादों में परंपरा के पालन के साथ ही नवीनता के संनिवेश, भक्ति रूपी राजमार्ग को निर्मल और स्वच्छ बनाए रखने के लिये संवादों के विधान, ज्ञान-कर्म-व्यवस्थित भक्ति-निरूपण के अर्थ इनकी रचना, संमिलित तथा पृथक् रूप से इनकी विशेषता, प्रत्येक संवाद की योजना के लक्ष्य आदि की मीमांसा की गई है।

—संपादक

अबुलफ़जल का वध

श्री चंद्रबली पांडे

वीर और विवेकी अल्लामा अबुलफजल के वध के विषय में इतिहासों में जो कुछ पढ़ा वह गले के नीचे न उतरा, पर उसे सत्य मानने के अतिरिक्त और कोई उपाय भी तो न था। इसी उलझन में था कि महाकवि केशवदास का 'वीरसिंहदेवचरित' हाथ लगा। बड़े चाव से पढ़ा। सोचा स्यात् कहीं से कुछ और हाथ लगे और अल्लामा अबुलफजल का अंत कुछ और खुलकर सामने आए। आया, पर विश्वास करने का साहस न हुआ। इतिहास के सामने काव्य को कौन खरा समझेगा। सो भी हिंदी-काव्य को। निदान फिर पढ़ा और फिर पढ़ा, और तब तक इस पढ़ने का पीछा करता रहा जब तक कवि का 'प्रमान' प्रमाण रूप में सामने न आ सका। केशव ने लिखा—

नव-रस-मय सब धर्म मय, राजनीति-मय मान।
वीरचरित्र विचित्र किय, केशवदास प्रमान ॥ १६ ॥[1]

केशवदास की इस विचित्रता पर विचार करने का अवसर नहीं। यह तो कभी काव्य के अवसर पर किया जायगा। यहाँ तो केवल उसके 'प्रमान' पर ही थोड़ा विचार करना है और सो भी अल्लामा अबुलफजल के वध के विषय में। प्रकट ही है कि कवि केशवदास की वाणी को कोई इस कारण प्रमाण नहीं मान सकता कि वह वधिक वीरसिंह का दरबारी कवि है। पर इसे भूलना न होगा कि यह दरबारी कवि दरबार पर कभी उतना आश्रित न था जितना उसका प्रसिद्ध पतादाता असदबेग। असदबेग ने जो कुछ उक्त अल्लामा के निधन के विषय में लिखा है वह प्रमाण केवल इसीलिए माना जाता है कि अभी तक उसकी जोड़ का कोई दूसरा ब्योरा सामने नहीं आया। जहाँगीर का लेख अव्यापक और अधूरा है। उसमें प्रसंगवश इसका उल्लेख कर दिया गया है। वह कहता है—

'बहादुरी भलमनसी और भोलेपन में अपने बराबरवालों से बढ़कर है। इसके बढ़ने का यह कारण हुआ कि मेरे पिता के पिछले समय में शैख अबुलफजल ने जो हिंदुस्थान के शैखों में बहुत पढ़ा हुआ और बुद्धिमान था स्वामिभक्त बनकर बड़े भारी मोल में अपने को मेरे बाप के हाथ बेच दिया था। उन्होंने उसको दक्षिण

१—वीरसिंहदेवचरित, पृष्ठ २।

से बुलाया। वह मुझसे लाग रखता था और हमेशा ढके छिपे बहुत सी बातें बनाया करता था। उस समय मेरे पिता फसादी लोगों से मेरी चुगलियाँ सुनकर मुझसे नाराज थे। मैं जान गया था कि शैख के आने से यह नाराजी और बढ़ जावेगी जिससे मैं हमेशा के लिये अपने बाप से विमुख हो जाऊँगा। इस बरसिहदेव का राज्य शैख के मार्ग में पड़ता था और यह उन दिनों बागी भी हो रहा था। इसलिये मैंने इसको कहला भेजा कि यदि तुम फसादी को राह में मार डालो तो मै तुम्हारा बहुत कुछ उपकार करूँगा। राजा नें यह बात मान ली। शैख जब उसके देश में होकर निकला तो इसने मार्ग रोक लिया और थोड़ी सी लड़ाई में उसके साथियों को तितर बितर कर के शैख को मारा और उसका सिर इलाहाबाद में मेरे पास भेज दिया। इस बात से मेरे पिता नाराज तो हुए परंतु परिणाम यह हुआ कि मैं बेखटके उनके चरणों में चला गया और वह नाराजी धीरे धीरे दूर हो गई।"[1]

श्री मुंशी देवीप्रसाद जी ने जिसे 'बरसिहदेव' पढ़ा है वह वास्तव में यही वीरसिहदेव है, जिसे भ्रमवश बहुत से लोगों ने 'नरसिंहदेव' भी पढ़ा था। फारसी लिपि की दुरूहता के कारण ही ऐसा हुआ। फिर भी इतना तो प्रकट ही है कि जहाँगीर ने जो कुछ लिखा है वह इतिहास के रूप में नहीं लिखा है। यहाँ वह केवल अपने को बचाना और वीरसिह की सेवा को उगाना चाहता है। उसकी इसमें प्रशंसा अवश्य है कि उसने अपने अपराध को स्वीकार कर लिया, परंतु यदि वह ऐसा नहीं करता तो और करता क्या, यह तो जगविदित हो चुका था और सभी लोग उसको कुछ इससे अधिक दोषी समझते थे। विचार करने की बात है कि कहला देने भर से वीरसिह ऐसा साहस का काम करते और केवल उनके बागी हो जाने भर से जहाँगीर भी उनके पास ऐसा भीषण संदेश भेजने का साहस करता? कहीं वे फूट जाते तो? नहीं, निश्चय ही इसका रहस्य कुछ और है। और, यहाँ इतना और भी ध्यान रहे कि अभी वीरसिंहदेव राजा नहीं थे। ओड़छा का राज्य इस समय राजा 'रामशाह' के हाथ में था, जिनकी ओर से उनके अनुज इंद्रजीतसिंह राज करते थे और वीरसिंहदेव अभी केवल जागीर भर भोगते थे, जिसको छोड़कर उन्हें भागना भी पड़ा था। केशव कहते हैं—

यह सुनि बोल्यौ जादौ गौर, पहिलौ सौ अब नाहीं ठौर।
फेरि अकब्बर के फरमान, कछवाहे सौं बैर विधान।

१—श्री देवीप्रसाद जी द्वारा अनूदित जहाँगीरनामा, पृष्ठ ३५-३६, भारतमित्र प्रेस, कलकत्ता, सन् १६०५।

इन्द्रजीत सौं हती समीति, कछू दिननि तैं ऐसी रीति।
कोई कैसोई हितु रचै, घातै पाइ न राजा बचै।
छोड़ौ सबै सुधर की आस, चलो सलैमसाहि के पास।
घटिबढ़ि अपनै करमहि लगी, उद्दिम सब की कीरति जगी।
जानै कौन करम की गाथ, काहू कै है रहिए नाथ।
सब ही कीनो यहै विचार, चल्यौ प्रयागहि राजकुमार।[1]

कहना न होगा कि यह 'राजकुमार' वही 'वीरसिंहदेव' है जिसको इतिहासकार इस अवस्था में भी 'राजा' लिखते हैं। राजकुमार वीरसिंह अकबर का लोहा नहीं मानता था। वह तो उसका विरोधी था। पर जब उसने देखा कि उसके भाई-बंधु भी उसके विरोध में हैं और उनसे पार पाने की शक्ति उसमें नहीं है तब वह अपने मित्रों के परामर्श से सलीम शाह से संधि करना चाहता है, क्योंकि वह भी उसी की भाँति उस समय अकबर का विरोधी था। उधर सलीम भी इसी चिंता में था। निदान—

अहीछत्र किय कुँवर मिलान, मिल्यौ मुदफ्फरसैद सुजान।
तासौं मतौ कुँवर सब कह्यौ, सुनि सुनि समुझि रीझि हिय रह्यो।
कह्यौ सु तिहि मुनि अरि कुल हाल, चलियै तो चलियै इंहि काल।
जौ लौं काहू कछू न कियौ, उमग्यौ जाहि न अरि कौ कियौ।
जौ ह्याँ ह्वै हैं कछू उपाउ, दियौ न जैहै आगे पाँउ।
घर के रहैं बिगरिहै काज, दुहूँ भाँति चलनौ है आज।
मन क्रम बचन धरौ यह नेम, तुम सेवक प्रभु साहि सलेम।[2]

जहाँगीर ने यह नहीं लिखा कि किसके द्वारा उसने यह काम कराया पर कवि केशव का कहना है कि इस कार्य का सूत्रपात सैद मुदफ्फर खाँ के द्वारा हुआ। अच्छा तो यह मुदफ्फर खाँ है कौन और इसके लिये भी जहाँगीर कुछ करता है या नहीं? सो हमारी मति में तो यही आता है कि हो न हो केशवदास का यह मुदफ्फर खाँ वही मुजफ्फर खाँ हो जिसके विषय में जहाँगीर ने स्वयं लिखा है—

इसी दिन (२१ गुरुवार, सावन बदी ५, सं० १६७५ वि०) मुजफ्फर खाँ ने जो ठट्ठे की सूबेदारी पर नियत हुआ था चौखट चूम कर १०० मुहरें, एक हजार रुपए और एक लाख रुपए के जवाहिर और जड़ाऊ पदार्थ भेंट किये।[3]

आगे चलकर जहाँगीर ने उसकी और प्रतिष्ठा की और उसे खिलअत, हाथी तथा मनसब दिए, यह उसकी 'तुजुक' से प्रकट ही है। रही आगे की

१—वीरसिंहदेवचरित, पृष्ठ ३२। २—वही। ३—जहाँगीरनामा, पृष्ठ ३२६।

बात, सो केशव लिखते हैं—

सरीफखांयहि देखि सुख भयौ, छीर नीर ज्यौं मन मिलि गयौ।
गुदर्‍यौ जब सरीफ खां जाइ, हरख्यौ दिल दिल्ली कौ राइ।
बोलहु बेगि कह्यौ सुलतान, मेरे वीरसिंह तन-त्रान।
साहि-सभा जब गयौ वरिंदु, सूरज-मंडल मैं मनु इंदु।
देखत सुख पायौ सुलतान, जौं तन पायौ अपनैं प्रान।
कै तसलीम गहे तब पाइ, उमग्यौ आनँद अंग न माइ।
सोम्यौ बीर देखि यौं साहि, जैसैं रहै सुमेरहि चाहि।
वीरसिंह कौ बाढी सौह, पारस सौं परस्यौ ज्यौं लौह।
परम सुगंध नीम ह्वै जाय, जैसैं मलयाचल कौ पाइ।
कह्यौ साहि नीकै है राय, जब नीकैं जब देखै पाय।
भली करी तैं राजकुमार, छोड्यौ सब आयौ दरबार।
ह्वै है मनैं पूजिहै आस, जौ तू रहिहै मेरे पास।
यह कहि पहिराए बहु बार, हाथी हय औरहु हथयार।
भीतर गौ दिल्ली कौ नाथ, बहुर्‍यो खा सरीफ गहि हाथ।
जब जब जाइ कुँवर दरबार, लै बहुरै अहिलाद अपार।[1]

केशवदास ने यहाँ शाह सलीम को जो 'दिल्ली कौ नाथ' कहा है इसका भी कुछ कारण है। बात यह है कि इस समय जहाँगीर इलाहाबाद के किले में बहुत कुछ स्वतंत्रता का अनुभव कर रहा था और अकबर के अधीन केवल इतना ही था कि उसे सम्राट् समझ लेता था। अकबर के समय में 'शाह' और 'सुलतान' का संकेत वह नहीं रह गया था जो उसके पहले था। अब तो मुगल राजकुमार 'शाह' और 'सुलतान' कहलाते थे। केशव ने भी यहाँ यही किया है। केशव के इस कथन से यह भी प्रकट होता है कि किस प्रकार प्रतिदिन उनकी मैत्री बढ़ती गई और निदान सलीम ने मुँह खोलकर वीरसिंह से कह ही तो दिया—

जितनौ कुल आलम परवीन, थावर जंगम दोई दीन।
तामै एकै बैरी लेख, औवलफजल कहावै सेख।
वह सालत है मेरे चित्त, काढ़ि सकै तौ काढ़हि मित्त।
जितनै कुल उमरावनि जानि, ते सब करहिं हमारी कानि।
आगै पीछै मन आपनै, वह न मोहिं तिनका करि गनै।
हजरति कौ मन मो हित भरयौ, याकै पारैं अंतर परयौ।
सत्वर साहि बुलायौ राज, दच्छिन ते मेरे ही काज।

१—वीरसिंहदेवचरित, पृष्ठ ३५।

हजरति सौं जौ मिलिहै आनि, तौ तुम जानहु मेरी हानि।
बेगि जाउ तुम राजकुमार, बीचहि वासौं कीजौ रार।
पकरि लेहु कै डारहु मारि, मेरी हेत हिये निरधारि।
होय काम यह तेरे हाथ, सब साहिबी तुम्हारे साथ।[1]

केशव ने अकबर के लिये जो 'हजरत' का व्यवहार किया है उससे इतिहास खूब परिचित है, पर वह यह नहीं जानता कि सलीम ने खूब परख-कर ही 'प्रयाग' में शपथ लेने के बाद ही वीरसिंह से ऐसा कुछ कहा था और इस संधि का संयोजक था खाँ शरीफ अथवा शरीफ खाँ। सुनिए—

सुख पायौ बैठे हते, एक समय सुलतान।
खाँ सरीफ तिन बोलि लिय, बिरसिंहदेव सुजान॥
बिरसिंहदेव सुजान मान दै बात कही तब।
या प्रयाग मै कुँवर सौह करिये मोसौं अब॥
तोसौ करौं विचार करहि अपनै मनभायैं।
अनत न कबहूँ जाउ रहहु मो सँग सुख पायैं॥[2]

वीरसिंह का विश्वास हो जाने पर उससे प्रयाग में शपथ लेकर सुलतान सलीम ने जो कुछ कहा वह ऊपर आ चुका है। अब वीरसिंह की सीख सुनिए। कहते है—

वह गुलाम तूँ साहिब ईस, तासौ इतनी कीजहि रीस।
प्रभु सेवक की भूल विचारि, प्रभुता यहै सु लेइ सहारि।
सुनियतु है हजरत कौ चित्त, मत्री लोग कहत है मित।
तौ लगि साहि करै जब रोष, कहियै यौ किहिं लागै दोष।
जन की जुबती कैसी रीति, सब तजि साहिब ही सौ प्रीति।
तातैं वाहि न लागै दोष, छाडि रोष कीजै संतोष।[3]

किंतु सलीम के मन में जो बात बरसों से बस चुकी थी वह सहसा निकलनेवाली कब थी? फलतः हुआ यह कि

कसि तुरतहि बखतर तहि बेगि, लै बाँधी कटि अपनी तेग।
घोरौ दै सिरपा पहिराय, कीनी बिदा तुरत सुख पाय।
दरीखानै तै राजकुमार, चलत भई यह सोभा सार।
रविमंडल तैं आनदकंद, निकसि चलौ जनु पूरनचंद।
सैद मुजफ्फर लीनो साथ, चलै न जानै कोऊ गाथ।[4]

१—वही, पृष्ठ ३६-७। २—वही, पृष्ठ ३५। ३—वही, पृष्ठ ३७। ४—वही।

तात्पर्य यह कि केशव के प्रमाण पर यह सिद्ध नहीं होता कि जहाँगीर ने दूर से जो कहला दिया उसी पर वीरसिंह ऐसा साहस का काम करने निकल पड़े; नहीं, इसके लिये तो बहुत छानबीन हुई और इसमें 'सरीफ खाँ' तथा 'सैद मुजफ्फर' का विशेष हाथ रहा। मुजफ्फर के बारे में पहले कहा जा चुका है, अतः अब शरीफ खाँ की सुनिए। श्री देवीप्रसाद जी लिखते हैं—

४ रज्जब अगहन सुदी ६ को शरीफ खा जो बादशाह के भरोसे का आदमी था और जिसको तुमन और तोग मिला हुआ था बिहार के सूबे से आकर उपस्थित हुआ। बादशाह ने प्रसन्न होकर उसको वकील और बड़े वजीर का उच्च पद अमीरुल-उमरा की पदवी और पाँच हजार सवार का मनसब दिया। इसका बाप ख्वाजा अब्दुस्समद बहुत अच्छा चित्रकार था और हुमायूँ बादशाह के पास प्रतिष्ठापूर्वक रहता था जिससे अकबर बादशाह भी उसका बहुत मान रखता था।[1]

श्री देवीप्रसाद जी ने शरीफ खाँ का जो परिचय दिया है वह पूर्ण नहीं है। जहाँगीर ने 'तुजुक' में इससे कहीं अधिक लिखा है। उसका कहना है कि मेरा शरीफ खाँ से ऐसा लगाव है कि मैं उसे भाई, पुत्र, मित्र और साथी समझता हूँ। क्यों न हो? इसी साथ का पता तो कवि केशव-दास देते हैं। केशवदास ने शरीफ खाँ के विषय में जो लिखा उसको सामने रखकर उसकी 'तुजुक' के शरीफ खाँ को देखें तो आप ही सारा रहस्य खुल जाय और यह भी स्पष्ट हो जाय कि क्यों उसपर जहाँगीर की ऐसी कृपा है। स्मरण रहे, उसे खाँ की उपाधि यहीं से मिली थी और यहीं से मिली थी बिहार की सूबेदारी भी। बादशाह अकबर ने आपको समझाने के लिये सलीम के पास भेजा था परंतु आप प्रयाग पहुँचकर उसके भेदिया हो गए और आपकी कृपा से ही अबुलफजल का वध हुआ। इतिहास की आँख से आप ओझल रहें पर हिंदी-काव्य आपको कैसे छोड़ सकता है? बाबा केशव ने कैसा परिचय दिया!

वीरसिंहदेव ने अबुलफजल की टोह में किया यह—

पठए चर नीके नर नाथ, आवत चले सेख के साथ।
चारन कही कुँवर सो आय, आए नरवर सेख मिलाय।
यह कहि सुनि भए सैंध के पार, पल पल लखै सेख की सार।
आए सेख मीच के लिए, पुर पराइछे डेरा किए।
औबलिफजलि बड़े ही भोर, चले कूँच कै अपनै जोर।
आगैं दीनी रसधि चलाइ, पीछैं आपुन चले बजाइ।
वीरसिंह दौरे अरि लेखि, ज्यों हरि मत्त गयंदनि पेखि।[2]

१—जहाँगीरनामा, पृष्ठ ३१। २—वीरसिंहदेवचरित, पृष्ठ ३८।

सलीम के आदेशानुसार वीरसिंह ने किया क्या, इसका पता तो हो गया। चर भेजा और उनसे सूचना पाते ही सिंध पार कर सहसा अबुलफजल पर धावा बोल दिया। शेख ने इस पर जो कुछ किया वह यह है—

सुनतहि वीरसिंह को नाउ, फिरि ठाढ़ो भयो सेख सुभाउ।
परम रोख सौं सेख बखानि, जैसे असुर नृसिंहहि जानि।
दौरत सेख जानि यह भाग, एक पठान गही तब बाग।[1]

अबुलफजल का यह साहस उनके साथी पठान को अच्छा न लगा। वह चाहता था कि इस अवसर पर किसी प्रकार शेख निकल भागे और फिर इसका बदला सलीम से लें, पर उसकी यह बात उनको न रुची। उन्होंने सच्चे वीर की भाँति कहा—

कहि धौं अब कैसे भग जाउँ, जूझत सुभट ठाउँ ही ठाउँ।
आनि लियौ उनि आलम लोगु, भाजे लाज मरैगौ लोगु[2]।

पठान ने बहुत कुछ समझाया पर शेख ने उसकी एक न सुनी और अंत में—

तूँ जु कहत बलि जेजै भाजि, उठे चहूँ दिसि बैरी गाजि।
भाजे जात मरन जौ होय, मोसौ कहा कहै सब कोय।
जौ भजिजै लरिजै गुन देखि, दुहूँ भाँति मरिबोई लेखि।
भाजौ जौ तौ भाज्यौ जाइ, क्यौ करि दैहै मोहि भजाइ।
पति की बेरी पाइ निहार, सिर पर साहि मया कौ भार।
लाज रही अँग अँग लपटाइ, कहि कैसो कै भाजौ जाइ।[3]

भला बेचारा पठान इसका उत्तर क्या देता? अबुलफजल सा न्यायी किसी के सामने कब झुका? अल्लामा ने झट देख लिया कि बैरी के हाथ से निकल भागना सभव नहीं। निदान वीरता से क्यों न जूझा जाय? जीत गए तो कहना ही क्या, मर गए तो भी कोई क्षति नहीं। मरना तो है ही, फिर बहादुरी के साथ क्यों न मरे। निदान—

छाड़ि दई तिहिं बाग बिचारि, दौर्‌यौ सेख काढ़ि तरवारि।
सेख होय जितही जित जबै, भरभराइ भट भागै तबै।
काटै तेग सोहियै सेखु, जनु तनु धरै धूमध्वज देखु।
दड धरै जनु आपनु काल, मृत्यु सहित जग मनहु कराल।
मारै जाहि खड द्वै होय, ताके सन्मुख रहै न कोय।
गाजत गजही सत हय खरे, बिन सुडनि बिन पायनि करे।
नारि कमान तीर असरार, चहुँ दिसि गोला चले अपार।

१—वही। २—वही। ३—वही।

परम भयानक यह रन भयौ, सेखहि उर गोला लगि गयौ।
जूझि सेख भूतल पर परे, नैकु न पग पीछे कौ धरे।[1]

शेख का अंत हो गया और साथ ही युद्ध का भी। फलतः

देखत कुँवर गए तब तहाँ, औबलिफजल सेख है जहाँ।
परम सुगंध गंध तन भर्यौ, सोनित सहित धूरि धूसर्यौ।
कछु सुख कछु दुख व्यापित भए, लै सिर कुँवर बडौनहि गए।[2]

अबुलफजल जीता हाथ न लगा तो उसका सिर ही सलीम की सेवा में भेज दिया गया—

देव सु बड़ गूजर सुत भले, नृपतिराइ सीस लै चले।
सीस साहि के आगै धर्यौ, देखत साहि सकल सुख भर्यौ।[3]

उधर अकबर को इसकी सूचना मिली, तो वेदना से उसका हृदय भर गया। फिर जब कुछ सचेत हुआ तब 'असदबेग' की सूझी। तड़पकर कहा—कहाँ है असदबेग ? लाओ इसी गुसलखाने में उसे दो टूक कर दूँ। असदबेग आया और ऐसी बात बनाकर लाया कि सबकी बन गई। किसी को इस हत्या का दंड न भोगना पड़ा। असदबेग ने इस स्थिति में जो विवरण दिया वही आज के इतिहास का प्राण है, पर उसकी अप्रामाणिकता आप ही प्रकट है। प्रत्यक्ष है कि असदबेग ने इस प्रकरण में जो कुछ लिखा है वह इतिहास की शुद्ध और निष्पक्ष दृष्टि से नहीं। नहीं; उसे तो अकबर का कृपापात्र बनना तथा अन्यों को उसके कोप से बचाना था। निदान सारा दोष उसने भाग्य और अल्लामा की ऐंठ के सिर मढ़ दिया और ऐसा मढ़ दिया कि आज भी वही इतिहास के मुंह से बोल रहा है। 'दरबार अकबरी' के लेखक मौलाना 'आजाद' को उसपर संदेह है, पर उनके पास अनुमान के अतिरिक्त कोई उपाय नहीं। उन्हों ने कवि केशव को कब पढ़ा ? रहे आजकल के शोधप्रिय डाक्टर लोग। सो विलायत के सामने घर को कब ढूंढ़ते हैं ? बहुत हुआ तो 'जहाँगीर' के लेखक डाक्टर बेनीप्रसाद जी ने लिख दिया कि राजनीति के विचार से हिंदी-कवि केशवदास के 'वीरसिंहदेवचरित' का महत्त्व नहीं। बस, फिर किसी की दृष्टि उसपर क्यों पड़ने लगी और क्यों उसका भी नाम इतिहास में आने लगा ? और तो और श्री गोरेलाल तिवारी का 'बुंदेलखंड का संक्षिप्त इतिहास' काशी नागरीप्रचारिणी सभा से प्रकाशित होने पर भी इस हिंदी के कवि केशव से दूर ही रहा ! पर नहीं, इतने दिनों पर आज एक हिंदी-प्रेमी के द्वारा यह बताया जाता है कि इस विषय में महाकवि केशव ने जो लिखा वह खरा और सरदार असदबेग ने जो कुछ

१—वही, पृष्ठ ३६-४०। २—वही, पृष्ठ ४०। ३—वही, पृष्ठ ४१।

कहा वह खोटा है। कारण ध्यान से सुनिए और फिर विचारकर कहिए कि आप का मत किधर है।

असदबेग ने पहले तो अपनी सफाई दी है और फिर अल्लामा की भूलों का उल्लेख किया है। उसका सारा विवरण देख जाइए। उसमें भूल यदि किसी से होती है तो केवल उक्त अल्लामा से। उसके मतानुसार अल्लामा अबुलफजल यदि गोपालदास की बातों में न आते और अपने मँजे हुए साथियों का कहना करते तो उनका यह अंत कदापि न होता। पर जो होना था उसे कौन रोकता। शेख ने अपनी सेना छोड़ दी और गोपालदास की खड़ी की हुई नयी सेना को साथ लिया। गदाई खाँ को साथ लिया पर उसके सुधे साथी वहीं छोड़ दिए गए। मिरजा मुहसिन ने निकल भागने को कहा पर उसपर कान नहीं दिया। आसपास के जागीरदार अपने सवारों को साथ भेजना चाहते थे पर शेख ने उनको भी साथ न लिया। यहाँ तक कि एक फकीर ने भी सचेत किया पर उसपर भी ध्यान न दिया। सारांश यह कि शेख का वध शेख की शेखी के कारण हुआ कुछ मुगली चाकरों की उपेक्षा के कारण नहीं। संदेह नहीं कि अल्लामा से कुछ भूल अवश्य हुई। उनकी सब से बड़ी भूल थी उस मार्ग से आगे बढ़ना। पर इसे कुछ दूसरी दृष्टि से भी तो देखे। वास्तव में ये दरबारी जीव वीरसिंह को क्या समझते थे और वस्तुत. मैदान में आने पर वह क्या निकला ? क्या यही वीरसिंह एर के घेरे से बिजली की भाँति सर से नहीं निकल गया और चुनी हुई मुगल सेना अंत तक उसको न पा सकी ? इतिहास के लोग इसे क्यों भूल जाते है ? असदबेग ने यहाँ भी तो यही किया ? सभी अपराधियों को अपने विवरण की चातुरी से बचा लिया। सभी निर्दोष निकले। गया सो गया पर जीते को बचाओ; यही असदबेग का लक्ष्य रहा है कुछ सच्ची घटना के यथातथ्य वर्णन का नहीं। फलतः उसने अल्लामा के पक्ष को गिराया और सम्राट् के सेवकों के पक्ष को बचाया है। उसकी कल्पना की इति तो वहाँ हो जाती है जहाँ वीरसिंह उक्त अल्लामा के शीश को अंक में लेता और उनके द्वारा झिड़का जाता है। उस समय जब्बार खाँ की लीला तो देखते ही बनती है। परंतु क्या यह संभव भी है ?

असदबेग को लीजिए, चाहे केशवदास को। दोनों ही बताते है कि वीरसिंह के रणभूमि में पहुँचने के पहले ही शेख धाराशायी हो चुके थे। सोचिए तो सही ऐसी स्थिति में वीरसिंह विरम कहाँ रहे थे। असदबेग कुछ भी कहता रहे, शेख ने ताड़ लिया था कि अब निकल जाना संभव नहीं। निदान उन्होंने लड़कर प्राण देना उचित समझा। भागकर प्राण गँवाना नहीं। वीर-सिंह अपनी सभी सेना के साथ इसी घात में तो था कि शेख जिधर निकलें

उधर से ही उन्हें ले लो। उसे अपनी बुद्धि तथा बाहुबल पर विश्वास था। उसने रात के समय छापा नहीं मारा। दिन दहाड़े शेख को एक ही झटके में ले लिया। भाग्य की बात छोड़िए। पर शेख ने यदि भूल की तो फिर किस सुभट ने वीरसिंह को पछाड़ दिया ? इतिहास और असदबेग का ब्योरा भी इसका साक्षी है कि जो उसके सामने आया उसे मुँह की खानी पड़ी और वह जयी होने पर भी मुँह लटकाए ही रहा। फिर बेचारा अल्लामा ही इसके लिये दोषी क्यों ? हाँ, इतना अवश्य हुआ कि उनको स्थिति का ठीक ठीक बोध न हुआ और उनको आत्मबल का अधिक विश्वास रहा। सो केशवदास भी तो यही कहते हैं—

> आए सेख मीच के लिए, पुर पराइछे डेरा किए।
> औवलिफजलि बड़े ही भोर, चले कूँच कै अपनै जोर ॥[1]

जो हो, हमें असदबेग से अधिक उलझने की कोई आवश्यकता नहीं। उसने उक्त अल्लामा की ऐंठ के विषय में जो कुछ लिखा है, सब सही, पर हमारा कहना तो यह है कि इसी के कारण हमारे कवि केशवदास की इतनी उपेक्षा क्यों ? स्मरण रहे, केशव ने जो कुछ लिखा है, वीरसिंह के सामने। अतएव उसकी साधुता में संदेह तभी हो सकता है जब उसमें वीरसिंह की कोरी प्रशंसा हो। आप केशव के वर्णन को ध्यान से पढ़ें और ध्यान से देखें असदबेग के विवरण को भी और फिर विचार कर कहें कि चाटुकारिता किसमें अधिक है और किसने किस व्यक्ति को किस रूप में देखा है। हमारा तो निश्चित मत है कि हिंदी के कवि केशव ने इस विषय में जो कुछ लिखा है वह सचमुच 'प्रमाण' है और उसके अभाव में वर्तमान प्रसंग भी अधूरा। 'शरीफ खाँ' का यह रूप हमें किस इतिहास में दिखाई देता है ? इसके बिना क्या जहाँगीर की कृपा का रहस्य खुलता है ? फिर भी अबुलफजल के प्रसंग अथवा जहाँगीर के इतिहास में केशव की पूछ नहीं। कारण आत्मपतन के अतिरिक्त और क्या हो सकता है ! 'वीरसिंहदेवचरित' का कोई अच्छा संस्करण भी तो नहीं ? वैसे कहने को तो हिंदी में बहुत कुछ हो रहा है, पर सच पूछिए तो उस कुछ पर कितने लोगों का ध्यान गया है जो कुछ खोकर कुछ बनाने के लिये बना है कुछ यों ही कला दिखाने या बात बनाने के लिये ही नहीं। केशव का अध्ययन समुचित रूप से कम होगा, यह अभी नहीं कहा जा सकता। कारण कि वे दरबारी और कठिन कविता के प्रेत हैं। परंतु इस जन का यह दृढ़ विश्वास है कि जब तक इन दरबारी कवियों का अध्ययन डटकर नहीं होता और जब तक हमारे इतिहास-लेखक इस युग के

[1]—वही, पृष्ठ ३८।

कवियों का मथन जमकर नहीं करते तब तक हमारा सच्चा इतिहास तो बन नहीं सकता। वैसे तिथियों की धड़-पकड़ और गद्दियों का लेखा-जोखा चाहे जितना बने। अस्तु चोखा काम तो यही है कि हम किसी काल के इतिहास में तब तक हाथ न लगाएँ जब तक हमें उस काल के कवियों का योग न मिला हो। कवि समाज की आँख है जो इतिहास के पन्नों में नहीं कविता के पदों में खुलती और विवेक को प्रशस्त मार्ग दिखाती है। आशा है हमारे इतिहासकार कुछ हिंदी-कवियों से भी सीखेंगे और अल्लामा अबुलफजल के प्रसंग में इस बेचारे केशव से भी पूछ देंगे। हमारा विश्वास है कि यदि 'वीरसिंहदेव-चरित' तथा 'जहाँगीर-जस-चंद्रिका' का प्रकाशन ठौर-ठिकाने से हो जाय तो इतिहास को भी कुछ आधार मिलें और इस काल की बहुत सी गुत्थियाँ सुलझ जायँ। सुनते हैं इलाहाबाद की हिंदुस्तानी एकाडमी इस काम में लगी है पर उसका परिणाम कब देखने को मिलेगा, यह भी देखना है।

'शिवभूषण' की बहुत पुरानी प्रति

श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र

इधर कुछ दिनों पूर्व मुझे भूषणकृत 'शिवभूषण' की एक बहुत पुरानी प्रति देखने को मिली जो संवत् १८१८ की लिखी हुई है। अब तक 'शिवभूषण' की जितनी प्रतियाँ मिली हैं यह उन सबसे प्राचीन है। यह प्रति काशी के सुप्रसिद्ध वैद्य स्वर्गीय श्री चुन्नीलाल जी के संग्रह की है[1]। यहाँ उसी प्रति पर कुछ विचार करने की आवश्यकता है, क्योंकि इस प्रति द्वारा भूषण को संबंध में कुछ नई बातें ज्ञात हुई हैं।

'शिवभूषण' की जितनी हस्तलिखित पुस्तकों का मुझे पता चला है वे सब बहुत बाद की लिखी हुई हैं। एक प्रति काशिराज के 'सरस्वती-भडार' में है। इसमें लिपिकाल नहीं दिया गया है। पर पुस्तकालय के सूचीपत्र में लिपिकार का नाम 'हनुमान तिवारी' लिखा हुआ है। राजपुस्तकालय के अनेक हस्तलिखित ग्रंथों और सूचीपत्र का आलोड़न करने से पता चला कि श्री हनुमान तिवारी ने सैकड़ों ग्रंथों की प्रतिलिपियाँ की हैं। ये राज के स्थायी लिपिकार जान पड़ते हैं। इनका समय संवत् १९०० के आसपास अनुमित होता है। इसके अतिरिक्त 'हिंदी हस्तलिखित ग्रंथों की खोज' के विवरणों से 'शिवभूषण' की दो और हस्तलिखित प्रतियों का पता चलता है। एक प्रति नील गाँव (सीनापुर) के तालुकेदार राजा ललितावख्श सिंह के पास है जो संवत् १९०२ की लिखी हुई है। लेखक का नाम दुर्गाप्रसाद है।[2]

१—वैद्य जी बड़े ही रसिक, काव्य-मर्मज्ञ और अच्छे कवि थे। इन्हें पुराने कवियों के संबंध में न जाने कितने कथा-प्रसंग याद थे। संग्रह की भी इनमें विशेष रुचि थी। हस्तलिखित ग्रंथों का इन्होंने बहुत अच्छा संग्रह कर रखा था। ये दीन-दयाल गिरि के प्रशिष्य अर्थात् श्री गोस्वामी दंपतिकिशोर जी के शिष्य थे। इनके संग्रह की बहुत सी पुस्तकें इधर उधर हो गई, कुछ कीड़े चाट गए और कुछ सड़-गल गई। पर अब भी इनके संग्रह में कितने ही अलभ्य हस्तलिखित ग्रंथ पड़े हुए हैं—संस्कृत के भी और हिंदी के भी। इधर इनके जामातृ और मेरे प्रिय शिष्य श्री लक्ष्मीशंकर जी व्यास बी० ए० (आनर्स), एम० ए० ने इनके पुस्तकालय के ग्रंथों को व्यवस्थित करने में हाथ लगाया, तो उन्हें 'शिवभूषण' की यह प्रति मिली।

२—देखिए हिंदी हस्तलिखित ग्रंथों की खोज, सन् १९११, ३१ ए।

दूसरी प्रति श्री कृष्णबिहारी मिश्र के पास है। यह संवत् १६४३ की लिखी है। इसके लिपिकार श्री युगुलकिशोर मिश्र हैं। इसी प्रति के आधार पर मिश्रबंधु महोदयों ने अपनी 'भूषण-ग्रंथावली' के 'शिवराजभूषण' का संपादन किया है। इन दोनों प्रतियों में पूर्ण साम्य है। इसलिए यह निश्चित है कि या तो ये दोनों प्रतियाँ किसी एक ही प्राचीन प्रति की प्रतिलिपियाँ हैं या दूसरी प्रति पहली प्रति से नकल की गई है। श्री कृष्णबिहारी मिश्र के पास मुझे 'शिवभूषण' की एक खंडित प्रति भी देखने को मिली थी, जिसमें, जहाँ तक मुझे स्मरण है, लिपिकाल नहीं दिया है। पर अनुमान से मैं यह कह सकता हूँ कि उससे और मिश्रबंधु महोदयों की मुद्रित प्रति से मिलान करने पर कोई उल्लेखनीय अंतर नहीं दिखाई पड़ा। इसलिए वह प्रति भी संवत् १६०० के आसपास की ही है और कदाचित् श्री युगुलकिशोर जी की प्रतिलिपि के आधार पर ही लिखी गई होगी।

इनके अतिरिक्त इसकी एक हस्तलिखित प्रति सिहोर (काठियावाड़) निवासी स्वर्गीय श्री गोविंद गिल्लाभाई के पास भी थी। इसका उल्लेख उन्होंने अपने गुजराती 'शिवराज-शतक' की भूमिका में किया है। पर इसका लिपिकाल नहीं दिया गया है। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि यह प्रति पूर्वोक्त प्रति से प्राचीन है या उसके बाद की। हाँ, हम यह अवश्य कह सकते हैं कि उक्त प्रति और श्री गोविंद गिल्लाभाई की प्रति में बहुत अधिक साम्य है। इसलिए यह निश्चित है कि ये दोनों किसी एक ही मूल प्रति से नकल की गई हैं। इसके लिपिकार 'जीवन सूरदास' नाम के कोई सज्जन हैं जिन्होंने ग्रंथ की प्रतिलिपि 'स्वअध्ययनार्थे' की है। इन्होंने ग्रंथ के आरंभ में 'श्रीगणेशाय नमः' लिखने के स्थान पर 'पार्श्व-नाथाय नमः' लिखा है। इससे स्पष्ट है कि यह प्रति जैन धर्मावलंबी व्यक्ति की लिखी है। अतः गुजरात में ही कहीं यह प्रतिलिपि की गई होगी। बहुत संभव है कि इन दोनों प्रतियों में से एक दूसरी से उतारी गई हो। पर जब तक श्री गोविंद गिल्लाभाईवाली प्रति सामने न हो तब तक दृढ़तापूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। (देखिए फलक संख्या १)

शिवा जी के संबंध में जब से दक्षिण में अनुसंधान-कार्य होने लगा तब से इतिहासज्ञ शिवा जी के राजकवि भूषण की रचना की खोज करने लगे। तब तक भूषण की कोई रचना मुद्रित नहीं हुई थी। संवत् १६४४ के आस-पास पूने से श्री शंकर पांडुरंग और रानाडे महोदय के प्रयत्न से 'शिवभूषण' सबसे पहले मुद्रित हुआ। इसका संपादन श्री गोविंद गिल्लाभाई की प्रति

१—देखिए वही।

और जयपुर के राजपुस्तकालय से प्राप्त प्रति के आधार पर हुआ था। संवत् १९४६ में डकन कालिज के श्री जनार्दन और जयपुर के श्री दुर्गाप्रसाद शास्त्री के उद्योग से 'शिवभूषण' का दूसरी बार प्रकाशन हुआ। संवत् १९५० में जबलपुर के श्री परमानंद सुहाने ने इसी सामग्री के आधार पर तीसरी बार 'शिवभूषण' का संशोधन करके उसे लखनऊ के नवलकिशोर प्रेस से प्रकाशित कराया। कलकत्ते के बंगवासी प्रेस और वेंकटेश्वर प्रेस से भी इसके संस्करण प्रकाशित हुए। काशी नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा श्री मिश्र-बंधुओं की ऐतिहासिक छानबीन से पूर्ण 'भूषण-ग्रंथावली' इसके उपरांत प्रकाशित हुई, जिसमें 'शिवभूषण' के अतिरिक्त 'शिवाबावनी' और 'छत्रसाल-दशक' भी संमिलित थे।

पूने और बंबई से 'शिवभूषण' का प्रकाशन होने पर भूषण की कविता की ओर बहुत से लोग आकृष्ट हुए। कच्छभुज के भाटिया बुकसेलर्स गोवर्द्धनदास लक्ष्मीदास ने संवत् १९४७ में सबसे पहले भूषण के कुछ सुने सुनाए छंदों का संग्रह 'शिवाबावनी' और 'छत्रसाल-दशक' के नाम से प्रकाशित किया। इसमें कुछ फुटकल छंद भी संगृहीत थे। मिश्रबंधु महोदयों की 'भूषण-ग्रंथावली' में इसी संस्करण से रचनाएँ ली गई थीं, पर उसमें कुछ उलटफेर भी किया गया है। 'शिवाबावनी' और 'छत्रसाल-दशक' संवत् १९४७ के पूर्व अस्तित्व में नहीं आए थे। इनकी कोई भी हस्तलिखित प्राचीन प्रति कहीं नहीं मिलती। प्रकाशक ने स्वय यह बात लिखी है कि हमने ही 'शिवाबावनी' और 'छत्रसाल-दशक' नाम रखे हैं। 'शिवाबावनी' या 'छत्रसाल-दशक' की उत्पत्ति-कथा पृथक् निबंध का विषय है और इस पर मैं पहले लिख भी चुका हूँ, अतः यहाँ 'शिवभूषण' की ही चर्चा करना प्रसंगानुकूल होगा।

'शिवभूषण' की मुद्रित और हस्तलिखित प्रतियों को सामने रख-कर मिलान करने पर स्पष्ट प्रतीत होता है कि इसकी तीन प्रकार की हस्तलिखित प्रतियाँ मिलती हैं। एक प्रकार की वे हैं जिनका साम्य काशिराज के पुस्तकालय की प्रति से होता है। दूसरे प्रकार की प्रतियाँ वे हैं जिनका ऐक्य श्री मिश्रबंधुओं की प्रति या श्री युगुलकिशोर जी की प्रति से होता है। तीसरे प्रकार की प्रतियाँ वे है जिनका एकत्व श्री गोविंद गिल्लाभाई की प्रति से स्थापित हो जाता है। तीनों में जो भेद है उसका भी निर्देश कर देना आवश्यक है। काशिराज की प्रति से मिलनेवाली प्रतियों और श्री मिश्रबंधुओं की प्रति से साम्य रखनेवाली प्रतियों में अलंकारों की संख्या बराबर है, अंतर केवल उदाहरणों का है। काशिराज की प्रति में अलंकारों के उदाहरण अपेक्षाकृत कम हैं। श्री मिश्र-

बंधुओं की प्रति में बहुधा दो दो तीन तीन छंद प्रत्येक अलंकार में उदाहरण स्वरूप दिए गए हैं, पर काशिराज की प्रति में बहुधा एक ही उदाहरण या यदाकदा दो उदाहरण भी हैं। दोनों में अलंकारों की सूची भी अंत में दी गई है। पर निर्माण-काल का दोहा काशिराजवाली प्रति में श्री मिश्रबंधुओं की प्रति से मेल नहीं खाता। वह पाठ में श्री गोविंद गिल्लाभाई की प्रति के दोहे से ही मिलता है।

श्री गोविद गिल्लाभाई की प्रति में प्रत्येक अलंकार के उदाहरण बहुधा दो दो हैं। एक बड़े छंद (कवित्त, सवैया, छप्पय आदि) में और दूसरा छोटे छंद (दोहे या सोरठे) में। पर दोहे के उदाहरण श्री मिश्रबंधुओं की प्रति में इससे कहीं अधिक अलंकारों में दिए गए हैं। इतना ही नहीं, इसमें अलंकारों की सूची अंत में नहीं है। यही नहीं, कुछ अधिक अलंकारों का विवेचन भी मिलता है। तुल्ययोगिता अलकार में 'अवर्ण्य भेद' भी रखा गया है, उसके उदाहरण में 'सपत नगेस आठों ककुभ गजेस' प्रतीकवाला कवित्त उद्धृत है। श्री मिश्रो वाली प्रति में यह छंद फुटकल में है। कुछ अधिक अलंकार भी लक्षण-लक्ष्यसहित बढ़े हुए हैं; जैसे—विपरीत, ललित, पूरब अवस्था गूढ़ोत्तर, चित्रोत्तर (इसी में प्रश्नोत्तर भी है), सूक्ष्म, युक्ति, प्रतिषेध और विधि नामक अलंकार।

यह कहा जा चुका है कि प्रस्तुत प्रति श्री गोविंद गिल्लाभाई की प्रति से मेल खाती है, इसलिए ये अलकार भी लक्षण-लक्ष्यसहित इसमें मिलते हैं। भूषण के कुछ छंद फुटकल में ऐसे मिलते थे जो स्पष्ट ही अलंकारो के उदाहरण के लिये रचे गए जान पड़ते थे। ऐसे सभी छंद इन नए अधिक अलंकारों के उदाहरणों में समा जाते है। इनके अतिरिक्त भी इसमें कुछ नए छंद मिलते है जो अभी तक अमुद्रित हैं। यहाँ केवल अमुद्रित छंद ही उद्धृत किए जाते है—

(१)

साहितनै गुन गैबे को 'भूषन' की मति हीउ करै अति ताजी।
ही निहचित करै अति आनँद आनँद कों करै जो नर गाजी।
धन्य करै नर कों कलि कीरति कीरति दान करै सुभ साजी।
दान करै दिन मान जहान बढाय कै मान खुमान सिवाजी।

—गुफालंकार।

(२)

अब कोहै भूषन जगत बरदाता सिवरूप।
अब को है भूषन जगत बरदाता सिवरूप।

—चित्रोत्तरालंकार।

(३)

सूरन सौं रन चौपर खेलि खुमान कौ खग्ग जग्यो जय पासौ।
भूषन जीति लई सब दच्छिन म्लेच्छन कौ घरमौ घन नासौ।
जात मुहीम तें जे उमराउ करैं तिनसों अवरंग तमासो।
कूबरि सैल धरी जु इनाम करैं तसबी कफनी अरु कासो।

—पिहितालकार।

(४)

पूना मध्य गगन महल रात मगन ह्वै,
रागरंग मै नवाब सुख पावने लगे।
लाख असवारन कौ निदरि सिवा के लोक,
चौकिन कौं चाँपि जाइ धाम धावने लगे।
भूषन भनत तहाँ फिलत्ते को मारि करि,
अमीरन पर मरहट्ट आवने लगे।
सायस्ता खाँ जान राखिवे कौ निज प्रान तब,
गुनिन समान बैठि तान गावने लगे।

—युक्ति अलकार।

इस प्रति में इस बढ़ती के अतिरिक्त ध्यान देने योग्य भिन्नता है कवि के पिता के नाम की। आज तक 'शिवभूषण' की जितनी प्रतियाँ प्रकाशित हुई हैं उन सबमें भूषण के पिता का नाम 'रत्नाकर' दिया हुआ है—

दुज कनौज कुल कस्यपी, रतनाकर-सुत धीर।
बसत तिविक्रमपुर सदा, तरनितनूजा-तीर॥

पर इसमें इसके स्थान पर दोहे का पाठ इस प्रकार है—

द्विज कनोज कुल कस्यपी, रतिनाथ कौ कुमार।
बसत तिबिक्रमपुर सदा, जमुना-कंठ सुठार।

(देखिए फलक संख्या २)

अब प्रश्न होता है कि भूषण के पिता का नाम 'रत्नाकर' था या 'रतिनाथ'। यदि अधिक प्रतियों को मानकर चलें तो 'रत्नाकर' ही नाम मान्य हो सकता है। पर यदि प्राचीन प्रति को अधिक प्रमाणिक समझें तो 'रतिनाथ' नाम को मानने में कोई बाधा नहीं है; प्रत्युत इस नाम का समर्थन एक दूसरे साधन द्वारा भी हो जाता है। किसी समय मतिराम के वंशज मथुरा की यात्रा करने गए थे उन्होंने अपनी वंशावली सत्तेप में वहाँ अपने पंडे की बही में उद्धृत की है। इस बही से उस अंश की प्रतिलिपि मेरे पास श्री जवाहरलाल चतुर्वेदी ने भेजी है। उसमें मतिराम के पिता का नाम

'रतिनाथ' दिया हुआ है।[1] परंपरा से प्रसिद्ध है कि भूषण और मतिराम भाई भाई थे। यदि ये रतिनाथ भूषण के भी पिता थे तो निश्चित है कि दोनों भाई भी थे। भूषण और मतिराम को भाई न मानने का जिनका आग्रह है उन्हें इसपर भी विचार करना चाहिए। बही के कथित अंश की प्रतिलिपि यहाँ उद्धृत की जाती है—

"मतिराम जी का वंश

शिवसहाय, श्री भाई बिहारीलाल, तथा शिवगुलाम, तथा रामदीन, बैजनाथ के बेटा हुइ, शिवसहाय व रामदीन, सीतल जू के बेटा हुइ बिहारीलाल व शिवगुलाम, जगन्नाथ के नाती मतिराम कवि के पती रतिनाथ के परपंती, सिवसहाय के बेटा गयादत्त, रामदीन के बेटा हुइ प्रागदत्त व नन्दकिशोर, बिहारीलाल के बेटा काशीदत्त, शिवगुलाम के बेटा शिवराखन तिवारी गूदरपुर के मुलवास तिकवापुर पर० बीरबलक अकबरपुर, म० गूदरपुर पट्टी सुराजपुर स० १८३६ भादों सु० ८.."

इसके अनुसार मतिराम के वशजों का वंशवृत्त इस प्रकार होगा—
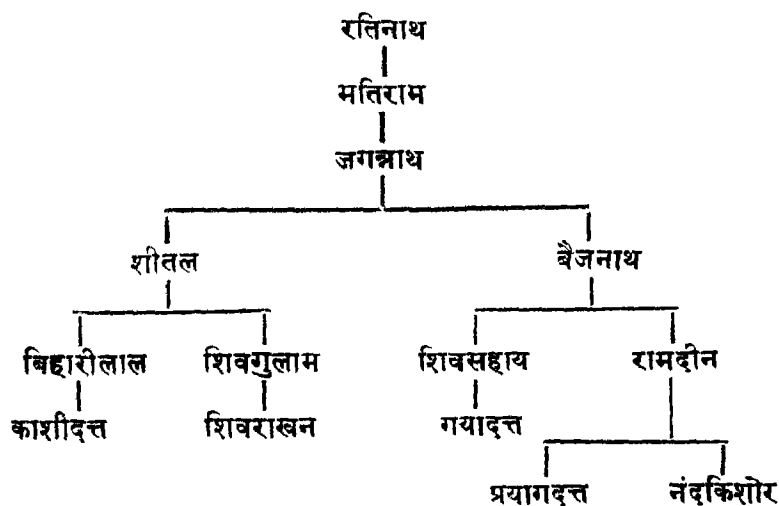
इस प्रकार यह प्रति बड़े महत्त्व की है। इससे 'शिवभूषण' के प्राचीन रूप का ही पता नहीं चलता, बही के मिलान से भूषण और मतिराम के भाई होने की पुष्टि भी होती है।

१—साप्ताहिक 'आज' के सोमवार, १४ आषाढ़, संवत् १९९७ (ता० ८-७-४०) के अंक में बही के इस पन्ने की जो प्रतिलिपि छापी गई है, उसमें भ्रम से 'रतिनाथ' को 'रतनाकर' पढ़ा गया है।

ईत्सिंग-निर्दिष्ट 'सिद्ध-ग्रंथ'

श्री राजकुमार जैन, साहित्याचार्य, न्याय-काव्य-तीर्थ

'पत्रिका' के वर्ष ४६ के प्रथमांक में श्री सरस्वतीप्रसाद चतुर्वेदी, एम० ए०, व्याकरणाचार्य, काव्यतीर्थ का 'ईत्सिंग के भारतयात्रा-विवरण में उल्लिखित एक संस्कृत-व्याकरण-ग्रंथ की पहचान' नामक लेख प्रकाशित हो चुका है। उससे स्पष्ट होता है कि चीन के प्रसिद्ध यात्री ईत्सिंग ने अपने यात्रा-विवरण[1] में तत्कालीन भारतीय संस्कृत-व्याकरण के अध्ययन-अध्यापन के संबंध में कई महत्त्वपूर्ण बातें लिखी हैं। ईत्सिंग के मतानुसार उस समय भारतीय विद्यार्थी छह वर्ष से लेकर बीस वर्ष तक संस्कृत के पाँच व्याकरण-ग्रंथों का अध्ययन करते थे। इन ग्रंथो में से सबसे पहले पढ़ाया जानेवाला 'सिद्ध-ग्रंथ' (सि-तन्-चांग) था, जिसे छह वर्ष के बालक छह महीने तक पढ़ते थे। चतुर्वेदी जी ने लेख में पहले संस्कृत के व्याकरण-ग्रंथ के संबंध में विद्वानों का जो घोर मतभेद रहा है उसका दिग्दर्शन और परिहार करते हुए यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि यह 'सिद्ध-ग्रंथ' तत्कालीन भारतीय 'वर्णमाला' पुस्तक के सिवाय और कोई ग्रंथ नहीं था। हम चतुर्वेदी जी के इस निर्णय से सहमत नहीं हैं। यद्यपि ए० वेंकटसुबैया के कतिपय विचारों से हमारा मतभेद है तथापि हम उनकी इस स्थापना से पूर्ण सहमत हैं कि संस्कृत-व्याकरण का वह पहला 'सिद्ध-ग्रंथ' 'कातंत्र व्याकरण' के सिवाय कोई और ग्रंथ नहीं था। यहाँ हमें इसी संबंध में अपने विचार व्यक्त करने हैं।

'सिद्ध-ग्रंथ' के संबंध में विद्वानों की स्थापनाएँ

१—चतुर्वेदी जी ने 'सिद्ध-ग्रंथ' के संबध में ईत्सिंग की स्थापना का उल्लेख किया है। ईत्सिंग के मत से ग्रंथ का नाम 'सिद्धिरस्तु' भी है, क्योंकि इस लघु पुस्तिका के प्रथम भाग का नाम 'सिद्धिरस्तु' है। समूचे ग्रंथ में उनचास अक्षरों के असंयुक्त और संयुक्त रूप यथाक्रम अठारह भागों में दिए गए हैं। संपूर्ण ग्रंथ में १०,००० अक्षर या ३०० श्लोक हैं। छह वर्ष के

१—देखिए रेकर्ड्स आव् बुद्धिस्ट प्रैक्टिसेज का तकाकुसुकृत अँगरेजी अनुवाद (सन् १८९६)।

बालकों को यह पुस्तक पढ़ाई जाती थी और वे छह मास में इसे समाप्त कर लेते थे। सर्वप्रथम इसे महेश्वरदेव ने प्रचारित किया था।

२—इस पुस्तक के संबंध में दूसरा मत मैक्सम्यूलर का है। चतुर्वेदी जी ने लिखा है कि मैक्सम्यूलर ने इस पुस्तक का महेश्वरकृत चतुर्दश सूत्रों से तादात्म्य बतलाया है[1]। किंतु ३०० श्लोक और १०,००० अक्षर-संख्या को ध्यान में रखते हुए मैक्सम्यूलर ने यह भी लिखा है कि उस समय इस ग्रंथ में चौदह सूत्रों के अतिरिक्त और भी अनेक बातें थीं।

३—चतुर्वेदी जी ने तीसरा मत कीलहार्न का दिया है। कीलहार्न ने मैक्सम्यूलर का मत स्वीकार नहीं किया। इनके मत से क्षेमेंद्र शर्मन् के 'मातृकाविवेक' के समान कोई ऐसा लिपि-ग्रंथ यहाँ अभिप्रेत है जिसमें असंयुक्त और संयुक्त अक्षर, उनके उच्चारण-स्थान आदि का सम्यक् निरूपण किया गया हो। कीलहार्न ने इस पुस्तक के 'सिद्धिरस्तु' नाम पड़ने का कारण यह बतलाया कि ग्रंथारंभ में 'श्रीगणेशाय नमः' की तरह मंगलार्थ 'सिद्धिरस्तु' लिखा रहा होगा।

४—चौथा मत बूलर का दिया गया है, जो कीलहार्न के सिद्धांत से सहमत है[2]।

५—पाँचवाँ मत ईत्सिंग के यात्राविवरण-ग्रंथ के अँगरेजी अनुवादक तकाकुसु का है, जिनका अनुमान है कि इस ग्रंथ में शिव-सूत्रों की ओर ही निर्देश है।

६—छठा मत ए० वेंकटसुबैया का है। चतुर्वेदी जी ने लिखा है कि वेंकटसुबैया ने एक तीसरे मत का प्रतिपादन किया है[3]। उनकी स्थापना है कि ईत्सिंग द्वारा निर्दिष्ट संस्कृत का व्याकरण-ग्रंथ शर्व वर्मन् कृत 'कातंत्र व्याकरण' है। इस मत की पुष्टि के लिये उन्होंने निम्नलिखित प्रमाण उपस्थित किए हैं।

क—'कातंत्र व्याकरण' का प्रारंभ 'सिद्धो वर्ण समाम्नायः' से हुआ है, इसी कारण ईत्सिंग ने इसका नाम 'सि-तन्-चांग' या 'सिद्ध-ग्रंथ' दिया है।

ख—ईत्सिंग के मतानुसार 'सिद्ध-ग्रंथ' सबसे पहले महेश्वरदेव ने प्रचारित किया था। इस संबध में वेंकटसुबैया का अनुमान है कि यद्यपि यह व्याकरण साक्षात् महेश्वर-वर-लब्ध नहीं है तथापि महादेव की आज्ञा से की गई उपासना द्वारा प्राप्त होने से इसे महेश्वर-वर-प्रदत्त मानने में कोई

१—देखिए इंडियन एंटिक्वेरी, भाग ६, पृष्ठ ३०५।

२—देखिए आन दि ओरिजिन आव् इंडियन अल्फाबेट, पृष्ठ ३० और १२२।

३—देखिए जर्नल आव् ओरियंटल रिसर्च, मद्रास, भाग १०, पृष्ठ ११।

हर्ज नहीं। अतः ईत्सिंग के इस कथन से कि महेश्वर ने इसे सर्वप्रथम प्रचारित किया, कोई विरोध नहीं। अथवा ग्रंथकार शर्व वर्मन् के नामैक-देश 'शर्व' पद के महेश्वर-पर्यायवाची होने के कारण ईत्सिंग ने भ्रांतिवश महेश्वर या शिव का उल्लेख किया है।

ग—'कातंत्र व्याकरण' की भिन्न भिन्न प्रकरण-संख्या के वैषम्य के परिहार के संबंध में वेंकटसुबैया का कथन है कि सरल रीति से व्याकरण पढ़ाने के लिये 'कातंत्र व्याकरण' की निर्मिति होने के कारण जिन विषयों का (जैसे कृत, तद्धित आदि) उसके मौलिक रूप में समावेश नहीं था, उन्हें परकालीन लेखकों ने उसमें जोड़ दिया है। यही कारण है कि जर्मन विद्वान् लीबिख के मतानुसार 'कातंत्र व्याकरण' के मौलिक रूप में केवल सत्रह प्रकरण थे, ईत्सिंग के समय में अठारह रहे होंगे और वर्तमान समय में उपलब्ध 'कातंत्र व्याकरण' में अठारह नहीं पचीस[1] या अट्ठाईस[2] प्रकरण हैं।

घ—३०० श्लोक या १०,००० अक्षर-संख्या के संबंध में वेंकटसुबैया का कहना है कि मौलिक सत्रह प्रकरणों में ७७५ सूत्र हैं, तो अठारह प्रकरणों में सामान्य रूप से ८२० सूत्र होने चाहिए। लगभग ४००० सूत्रों की पाणिनीय 'अष्टाध्यायी' की श्लोक-संख्या ईत्सिंग और यूनचांग दोनों के मतानुसार १००० है। इस हिसाब से 'कातंत्र व्याकरण' के ८२० सूत्रों के २०५ श्लोक होने चाहिए। किंतु 'कातंत्र'-कार की विषय-प्रतिपादन-शैली विशद और स्पष्टतः होने से ८२० सूत्रों में ही ३०० श्लोक आ गए होंगे।

ङ—'कातंत्र व्याकरण' के 'कलाप' और 'कुमार' नामांतर क्यों पड़े? इस प्रश्न को हल करने के लिये वेंकटसुबैया ने वनमाली द्विजराज द्वारा लिखित 'कातंत्र-व्याकरणोत्पत्तिप्रस्ताव' की आख्यायिका का उल्लेख किया है। उसमें लिखा है कि शर्व वर्मन् ने पहले महादेव की आराधना की और उनकी आज्ञा से कार्त्तिकेय कुमार की उपासना की। उपासना सफल होने पर शर्व वर्मन् ने कुमार के वाहन मयूर के कलाप से प्रस्तुत व्याकरण का संग्रह किया। अतः इस व्याकरण का नाम 'कुमार व्याकरण' या 'कलाप व्याकरण' पड़ा।

चतुर्वेदी जी का मत

चतुर्वेदी जी पर कीलहार्न और बूलर के मत का प्रभाव पड़ा है और उनका यही खयाल है कि ईत्सिंग-निर्दिष्ट 'सिद्ध-ग्रंथ' तत्कालीन भारतीय

१—देखिए बिब्लिओथिका इंडिका एडीशन।

२—बेलवेलकरकृत सिस्टेम्स आव् संस्कृत ग्रामर, पृष्ठ ८३।

'वर्णमाला' पुस्तक की ओर संकेत करता है, 'कातंत्र' या 'कार्तत्र' जैसे संस्कृत-व्याकरण-ग्रंथ की ओर नहीं।

चतुर्वेदी जी मैक्सम्यूलर की इस बात से सहमत नहीं है कि 'सिद्ध-ग्रंथ' का महेश्वरकृत चतुर्दश सूत्रों से तादात्म्य था। इसलिए मैक्सम्यूलर के मत-निरूपण के पश्चात् चतुर्वेदी जी ने 'इंडिया, ह्वाट इट कैन टीच अस'[1] का उल्लेख करते हुए लिखा है कि बाद में मैक्सम्यूलर ने भी कीलहार्न का मत मान लिया। लेकिन मैक्सम्यूलर कीलहार्न के मत से किस रूप में सहमत रहे इसे हम आगे चलकर मैक्सम्यूलर के विचारों के साथ अपने विचारों की तुलना करते समय दिखाएँगे।

तकाकुसु के मत से भी चतुर्वेदी जी सहमत नहीं हैं। इनके मत का उन्होंने सयुक्ति खंडन किया है। वे लिखते है कि ईत्सिंग ने शिव-सूत्रों को लक्ष्य कर उपर्युक्त बातें कही हों, यह जँचता नहीं; क्योंकि पहले तो शिव-सूत्रों का आरंभ 'सिद्धिरस्तु' से नहीं हुआ है, दूसरे उनमें अठारह भाग नहीं केवल चौदह सूत्र हैं और अक्षर-संख्या १०,००० नहीं केवल बयालीस है। तीसरे शिव-सूत्रों के पढ़ने के लिये छह मास का समय आवश्यक नहीं।

वेंकटसुबैया की स्थापनाओं पर चतुर्वेदी जी के आक्षेप

वेंकटसुबैया का मत मान लेने में चतुर्वेदी जी को अनेक कठिनाइयाँ है—

१—चतुर्वेदी जी का आक्षेप है कि छह वर्ष की वय के बालक को 'कातंत्र व्याकरण' पढ़ने के लिये दिया जाना असंभव प्रतीत होता है और अठारह प्रकरणों के ग्रथ को छह मास में समाप्त करना तो नितांत असंभव है। पाँच-सात वर्ष के बालक को दो-एक वर्ष तो वर्णमाला का सम्यक् परिचय प्राप्त करने में ही लग जाते हैं और तब भी संयुक्ताक्षर के क्लिष्ट संस्कृत शब्द उसकी समझ के बाहर रहते है। ऐसी अवस्था में यह कैसे विश्वास किया जाय कि छह वर्ष के अबोध बालक छह मास के भीतर ही 'कातत्र व्याकरण' जैसे सूत्र-शैली में लिखे व्याकरण-ग्रंथ को समाप्त कर लेते थे। यह हम मानते हैं कि बालकों के लिये नियमों का समझना आवश्यक नहीं था, केवल शब्दो का रटना ही पर्याप्त था, लेकिन शब्द रटने के लिये भी संस्कृत की संयुक्ताक्षर और असंयुक्ताक्षरवाली वर्णमाला का परिचय तो होना ही चाहिए।

२—(क) चतुर्वेदी जी लिखते हैं कि 'लिपिमातृका' का व्याकरण-ग्रंथों में सर्वप्रथम उल्लेख असंगत नहीं है, जैसा कि वेंकटसुबैया जी समझते

१—देखिए सन् १६१६ का संस्करण, पृष्ठ २११।

हैं, क्योंकि संस्कृत व्याकरण के प्रारंभिक शिक्षण में वर्णमाला का निर्देश आवश्यक है। क्या प्राचीन, क्या नवीन सभी छात्रोपयोगी व्याकरण-ग्रंथों में सर्वप्रथम वर्णमाला दी जाती है।

(ख) चतुर्वेदी जी का कहना है कि ईत्सिंग ने प्रारंभिक शिक्षोपयोगी पाठ्यक्रम का विवरण देते समय इस ग्रंथ का नाम लिया है। अतः यह निर्देश वर्णमाला ग्रंथ के लिये होना चाहिए; अन्यथा ईत्सिंग यह लिखते कि वर्णमाला सीखने के बाद 'सिद्ध-ग्रंथ' (अर्थात् 'कातंत्र व्याकरण') पढ़ाया जाता है।

३—ईत्सिंग ने 'वर्णमातृका' ग्रंथ को महेश्वर-प्रचारित क्यों कहा? चतुर्वेदी जी ने इसका यह कारण दिखलाया है कि प्रचलित व्याकरण-परंपरा में सर्वप्रथम उपलब्ध शिव-सूत्रों में दी गई वर्णमाला महेश्वरकृत मानी जाती है। अतः ईत्सिंग ने स्वकालीन वर्णमाला-ग्रंथ के प्रचारक के रूप में महेश्वर का उल्लेख किया है।

चतुर्वेदी जी द्वारा अपने मत की पुष्टि

१—१०,००० अक्षर या ३०० श्लोक-संख्या के संबध में चतुर्वेदी जी का लिखना है कि प्रथम ज्ञातव्य तो यह है कि ये संख्याएँ निश्चित परिमाण नहीं बतातीं। ईत्सिंग ने स्वयं लिखा है कि श्लोकों का परिमाण एक सा नहीं है, कई छोटे और कई बड़े हैं; अतः एकदम निश्चित परिमाण बताना असंभव है।

२—ईत्सिंग द्वारा प्रयुक्त शब्द 'सि-तन्-चांग' का संशोधकों ने अनुवाद किया है 'सिद्ध-रचना'। यूनचांग ने 'शी-एर्ह्-चांग' शब्द का प्रयोग इसी संबंध में किया है, जिसका अनुवाद विद्वानों ने 'द्वादश भाग' किया है। सर्वसंमति से 'द्वादश भाग' का अर्थ द्वादशाक्षरी या बारहखड़ी (क का कि की कु कू के कै को कौ कं कः, ख खा खि खी आदि) है, जो यूनचांग के अनुसार बालकों को सर्वप्रथम सिखलाई जाती थी। 'शी-एर्ह्-चांग' का दूसरा नाम 'सिद्धिरस्तु' या 'सिद्धवस्तु' ईत्सिंग ने दिया है। बील ने यूनचांग के ग्रंथ के अँगरेजी अनुवाद में शी-एर्ह्-चांग' को 'सिद्धवस्तु' भी कहा है। इससे स्पष्ट है कि ईत्सिंग का 'सि-तन्-चांग' शब्द (जिसका पर्यायवाची शब्द 'सिद्धिरस्तु' या 'सिद्धवस्तु' है) यूनचांग के 'शी-एर्ह्-चांग' (बारहखड़ी) से भिन्न नहीं है; अर्थात् ईत्सिंग-निर्दिष्ट प्रथम संस्कृत व्याकरण-ग्रंथ द्वादशाक्षरी के समान कोई ग्रंथ होना चाहिए।

३—तकाकुसु ने पादटिप्पणी (पृष्ठ १७०) में लिखा है कि 'सिद्धिरस्तु' नामक वर्णमाला-ग्रंथ अब चीन देश में नहीं मिलता है, किंतु जापान में अब तक इसका प्रचार है।

४—वाटर्स का कहना है कि चीन के वाङ्मय में बालकों की प्राइमरी पुस्तक के लिये सि-तन्-चांग या 'सिद्ध-चांग' शब्द का प्रयोग पाया जाता है।

५—सन् १५६६ में लिखित 'सिद्ध के १८ प्रकरण' नामक एक जापानी पुस्तक आक्सफोर्ड पुस्तकालय में अभी तक सुरक्षित है। इससे भी पहले का (अर्थात् सन् ८८० में लिखित) एक अन्य जापानी ग्रंथ 'सिद्धपिटक' या 'सिद्ध-कोश' अब भी समुपलब्ध है। इस पुस्तक की आठवीं जिल्द में 'सिद्ध' के अठारह खडों का निरूपण है। प्रारंभ में 'ओं नमः सर्वज्ञाय', फिर 'सिद्धम्', तदनंतर सोलह स्वर और पैंतीस व्यंजन, इसके बाद क ख ग ` ` ` क्य ख्य ग्य`````क्र ख्र ग्र आदि से लेकर क्व ख्व ग्ग घ्घ```तक अठारह खंडों में रूप दिखाए गए हैं। इस पुस्तक के अनुसार इसमें १६५५० और तकाकुसु की गणना के अनुसार ६६१३ अक्षर हैं। संयुक्त अक्षरों में से अनुपयुक्तों और अप्रचलितों को निकाल देने से और प्रयुक्तों को संमिलित कर देने से अक्षरों की संख्या १०,००० और श्लोकों की संख्या ३०० संभव है। अतः ईत्सिग के 'सिद्ध-चांग' पद से यदि हम उपरिनिर्दिष्ट जापानी पुस्तक के समान 'वर्णमाला पुस्तक' का अर्थ लगाएं तो कोई असंगति नहीं है।

६—चतुर्वेदी जी का यह एक और आक्षेप है और फलितार्थ से इसमें उनकी स्थापना की पुष्टि भी है। वे लिखते हैं—'यह पहले ही कहा जा चुका है कि इसी तरह से प्रथम व्याकरण-ग्रंथ के संबंध में यूनचांग ने (सन् ६३५) बारह प्रकरणों का उल्लेख किया है, किंतु लगभग पचास वर्षों के अनंतर ईत्सिग (सन ६८५) उसी ग्रंथ के अठारह प्रकरणों का निर्देश करता है। अर्थात् पचास वर्षों में ही वेंकटसुब्बैया के मतानुसार छह प्रकरण और जोड़ दिए गए थे। वेंकटसुब्बैया कहते हैं कि इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है, क्योंकि दुर्गसिंह की 'वृत्ति' नामक ('कातंत्र व्याकरण' की) टीका की रचना के समय (सन् ८००) तक 'कातंत्र व्याकरण' में प्रकरणों की संख्या पचीस तक पहुँच गई थी। किंतु प्रश्न तो यह है कि यदि उन्हीं के कथनानुसार हम मान भी लें कि यूनचांग के समय 'कातंत्र व्याकरण में बारह प्रकरण थे तो लीबिख द्वारा संपादित 'कातंत्र व्याकरण' के मौलिक रूप में (जिसका रचनाकाल ईसवी सन की प्रथम शती माना जाता है) उपलब्ध सत्रह प्रकरणों के अस्तित्व को ठीक मानने के लिये उल्टी गंगा बहानी पड़ेगी, अर्थात् मौलिक सत्रह प्रकरणों के बारह प्रकरण हुए और फिर ईत्सिंग के समय में अठारह प्रकरण हो गए। सच बात तो यह है कि ईत्सिंग द्वारा निर्दिष्ट प्रथम व्याकरण ग्रंथ का तात्पर्य 'कातंत्र व्याकरण' होना संभव ही नहीं है। वेंकटसुब्बैया जी का इस संबंध में प्रयत्न विफल है। सारांश यह है

कि ईत्सिंग-निर्दिष्ट प्रथम व्याकरण-ग्रंथ 'सि-तन्-चांग' तत्कालीन 'वर्णमाला-पुस्तक' को सूचित करता है।'

चतुर्वेदी जी द्वारा उद्भावित आक्षेपों का समाधान

१—चतुर्वेदी जी का पहला आक्षेप दमदार नहीं जान पड़ता। छह वर्ष का बालक छह महीने में 'कातंत्र' के ३०० श्लोकों को कंठाग्र कर लेता रहा होगा; वे इसे असंभव समझते हैं। आप कहते हैं कि पाँच-सात वर्ष के बालक को दो-एक वर्ष तो वर्णमाला का सम्यक् परिचय प्राप्त करने में ही लग जाता है। लेकिन यह सर्वविदित है कि आज भी पाँच वर्ष के बालक स्कूल में प्रविष्ट कर दिए जाते हैं और एक वर्ष में वर्णमाला से पूर्ण परिचित हो जाते हैं। और यह बात तो ईसा की सातवीं शती की है। उस समय भी पाँच वर्ष का बालक एक वर्ष में वर्णमाला से पूर्ण परिचित हो ही जाता रहा होगा; क्योंकि पहले के लोगों की मानसिक और शारीरिक दोनों शक्तियाँ आजकल के लोगों से बहुत अधिक थीं। उस समय के बालकों की प्रतिभा और स्मरण-शक्ति बहुत तीव्र होती थी। 'इंडिया, ह्वाट इट कैन टीच अस' के हिंदी-अनुवाद 'संसार को भारत का संदेश' नामक पुस्तक में तत्कालीन विद्यार्थियों की प्रतिभा और तीव्र स्मरण-शक्ति के संबंध में लिखा है—'इसके बाद वह (ईत्सिंग) एक कहावत लिखता है, जिसका आशय चीनी भाषा में ही स्पष्ट हो सकता है। वह यह है—बैल के हजारों बाल जो काम नहीं कर सकते उसे करने के लिये भेंड़े का एक ही सींग यथेष्ट है। हिंदी कहावत द्वारा यदि इसी चीनी कहावत का अभिप्राय प्रकट किया जाय तो वह इस प्रकार होगा कि सौ सुनार की न एक लुहार की। ईत्सिंग तब इन विद्यार्थियों की (बौद्ध और अन्यमतावलंबी दोनों की) उच्च श्रेणी की स्मृतिशक्ति के अत्यंत विकास के विषय में लिखता है। ये लोग एक दफा पुस्तकें पढ़कर कंठस्थ कर सकते हैं।'[1] इस उद्धरण से स्पष्ट है कि उस समय के सभी विद्यार्थियों में उच्च श्रेणी की धारणा शक्ति थी और ये एक बार ही पुस्तक पढ़कर उसे कंठस्थ कर सकते थे। इसलिये ईत्सिंग के मतानुसार तत्कालीन छह वर्ष के बालक को 'कातंत्र-व्याकरण' के ३०० श्लोकों का छह महीने में रट डालना कोई असंभव काम न था। एक महीने में पचास श्लोकों का रटना ही तो हिस्से में आता है। काशी में हमने भी कुछ ऐसे छात्रों को देखा है जो मुशकिल से पाँच छह वर्ष

१—पृष्ठ २६७।

के होंगे, लेकिन उन्हें 'अमरकोश' के श्लोक और 'मुक्तावली' की पूरी की पूरी कारिकाएँ कंठस्थ हैं।[1]'

२—(क) चतुर्वेदी जी प्रस्तुत 'सिद्ध-ग्रंथ' को 'लिपिमातृका' ग्रंथ बताते हैं। उनका कहना है कि 'लिपिमातृका' का व्याकरण-ग्रंथों में सर्वप्रथम उल्लेख असंभव नहीं है, जैसा वेंकटसुबैया समझते हैं। इस संबंध में निवेदन है कि प्राचीन और नवीन संस्कृत व्याकरण-ग्रंथों में वर्णमाला किसी न किसी रूप में दी अवश्य जाती है, लेकिन वह वहाँ इसलिये नहीं दी जाती कि विद्यार्थी उससे 'अ आ इ ई' का बोध कर व्याकरण के अध्ययन का आरंभ करें, वरन् उसके देने का उद्देश्य प्रत्याहारों का परिज्ञान कराना मात्र है, जैसा कि 'लघुसिद्धांतकौमुदी' में सूत्र रूप में वर्णमाला देने के बाद लिखा है—'इति माहेश्वराणि सूत्राण्यणादिसंज्ञार्थानि' (महादेव से आए हुए ये सूत्र—सूत्रबद्ध वर्णमाला—अण् आदि प्रत्याहारों के बोध के लिये हैं) और जैसा कि 'सारस्वत व्याकरण' में लिखा है—'अनेन प्रत्याहार ग्रहणाय वर्णाः परिगण्यन्ते' (इसमें प्रत्याहारों के ग्रहण के लिये वर्ण-गणना की जाती है।) प्रारंभ में किसी न किसी रूप में वर्णमाला रहने से कोई भी संस्कृत-व्याकरण-ग्रंथ वर्णमाला का ग्रंथ नहीं कहा जा सकता।

ख—जब हम चतुर्वेदी जी को यह लिखते हुए देखते हैं कि 'ईत्सिंग ने प्रारंभिक शिक्षोपयोगी पाठ्यक्रम का विवरण देते समय इस ग्रंथ का नाम लिया है, अतः यह निर्देश वर्णमाला-ग्रंथ के लिये होना चाहिए अन्यथा ईत्सिंग यह लिखते कि वर्णमाला सीखने के बाद 'सिद्ध-ग्रंथ' (अर्थात् 'कातंत्र व्याकरण') पढ़ाया जाता था।' तब प्रश्न उठता है कि ईत्सिंग ने यह क्यों नहीं लिखा कि संस्कृत व्याकरण में प्रवेश पाने के लिये 'सिद्ध-ग्रंथ' (अर्थात् 'वर्णमातृका' ग्रंथ) पढ़ाया जाता था। ईत्सिंग को 'वर्णमाला सीखने के बाद' यह संकेत करने की जरूरत ही क्या थी। क्योंकि प्रस्तुत चर्चा संस्कृत-व्याकरण-ग्रंथ के अध्ययन-अध्यापन की है और बिना वर्णमाला सीखे संस्कृत-व्याकरण-ग्रंथ पढ़ा ही कैसे जा सकता है। ईत्सिंग के ध्यान में भी यह बात रही होगी।

३—ईत्सिंग ने 'सिद्ध-ग्रंथ' को महेश्वर-प्रचारित बताया है। चतुर्वेदी जी 'वर्णमातृका' ग्रंथ को महेश्वर-प्रचारित इसलिये मानते हैं कि प्रचलित व्याकरण-परंपरा में सर्वप्रथम उपलब्ध 'शिव-सूत्रों' में दी गई वर्णमाला महेश्वरकृत मानी जाती है। लेकिन विचारना यह है कि जब प्रचलित

---

१ दाक्षिणात्य लोग अपने ५ वर्ष के बच्चों को अब भी अमरकोश, अष्टाध्यायी और रघुवंश रटा देते हैं। —संपादक।

वर्णमाला महेश्वरकृत है तब महेश्वर ईत्सिंग के स्वकालीन वर्णमाला-ग्रंथ के प्रचारक कैसे माने जा सकते हैं। 'माहेश्वराणि सूत्राणि' का भी यही अर्थ होता है कि ये सूत्र (सूत्रबद्ध वर्णमाला) महेश्वर से आए हैं—महेश्वरकृत हैं। ये महेश्वर-प्रचारित हैं, ऐसा अर्थ तो नहीं निकलता। 'तत आगतः' से जो 'अण्' प्रत्यय यहाँ हुआ है वह भी 'आगत' अर्थ में ही हुआ है, प्रचारार्थ में नहीं। प्रचारार्थ में 'अण्' प्रत्यय या प्रकृत रूप-साधक अन्य प्रत्यय और किसी सूत्र से होता भी नहीं है। अतः जब 'माहेश्वराणि सूत्राणि' के आधार पर वर्णमाला ही महेश्वर-प्रचारित प्रमाणित नहीं होती तब 'वर्णमातृका' ग्रंथ महेश्वर-प्रचारित कैसे माना जा सकता है। हम भी इस बात से सहमत नहीं हैं कि कर्ता प्रचारक हो ही नहीं सकता, लेकिन वर्णमाला को महेश्वरकृत मानकर उसे महेश्वर-प्रचारित मानने में उल्लिखित प्रमाण के रहते भी एक और प्रबल बाधा है। वह यह कि वर्णमाला को महेश्वरकृत मान लेने पर भी उसके प्रचार का भार भक्त महात्माओं ने अपने ही सिर उठाया होगा, महेश्वर को इस परेशानी से मुक्त रखा होगा। ईत्सिंग ने 'सिद्ध-ग्रंथ' को महेश्वर-प्रचारित क्यों कहा, इस संबंध में हम अपनी राय आगे लिखेंगे। (क्रमशः)

प्राचीन हस्तलिखित हिंदी-ग्रंथों की खोज

[सन् १९३८–४०]

सत्रहवीं त्रीवर्षी (सन् १९३८–४०) में प्राचीन हस्तलिखित हिंदी-ग्रंथों की खोज में मिले प्रमुख रचनाकारों और रचनाओं के विषय में संक्षिप्त टिप्पणी नीचे दी जा रही है। इस त्रिवर्षी का संपूर्ण विवरण सुविधानुसार प्रकाशित किया जायगा।

(१)

बुद्ध सिंह रावराजा—इनका 'सनेहतरंग' नामक रीतिग्रंथ मिला है, जिसमें नायिकाभेद, रस और अलंकार का वर्णन है। ग्रंथ का रचना-काल संवत् १७८४ वि० है और लिपि-काल सवत् १८९४ वि०। रचयिता का कोई परिचय नहीं मिलता, परंतु ये पौरच-नरेश बुद्ध जान पड़ते हैं, जिनका उल्लेख भूषण के नाम से प्रसिद्ध एक छंद में है[1]। ये दुर्गा के भक्त जान पड़ते हैं, ग्रंथारंभ में जिन्हें नवरसमयी कहकर वंदना की गई है।

गोस्वामी श्री प्रभु चंद्रगोपाल जी—का 'चंद्रचौरासी' नामक ग्रंथ मिला है। इसमें 'सुधा' नाम से तीन अध्याय हैं जिनमें माध्व संप्रदाय के सिद्धांत, सेवा-भाव-विधि और उत्सव-कार्य वर्णित हैं। रचना-काल और लिपि-काल अज्ञात है। ग्रंथ की पुष्पिका के अनुसार रचयिता माध्वगौड़ेश्वर संप्रदाय के सप्तम पीठ के आचार्य थे और श्री चित्रा सहचरी के स्वरूप कहे जाते थे। अन्य वृत्त नहीं दिया है, पर प्रस्तुत ग्रंथ के स्वामी गोस्वामी यमुनावल्लभ जी (स्थान ?) का कहना है कि इनके बड़े भाई का नाम श्री 'रामराय' था जो अकबर के समकालीन थे तथा जिनका उल्लेख नाभादास जी की 'भक्तमाल' में हुआ है। भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र ने भी एक कुंडलिया में श्री रामराय जी का उल्लेख किया है। श्री प्रभु चंद्रगोपाल जी के शिष्यों में से एक बंग देश के राजा रसिकमोहन राय थे जिन्हें चंद्रसखी का अवतार कहते हैं। इन्होंने प्रस्तुत ग्रंथ की प्रत्येक 'सुधा' (अध्याय) के आदि में अपनी कविता जोड़ दी है। ग्रंथ के स्वामी अपने को इन आचार्यों का वंशज बतलाते हैं और सुप्रसिद्ध 'गीतगोविंद'-कार जयदेव को अपना पुरखा मानते हैं। इनके कथनानुसार जयदेव लाहौर के रहनेवाले सारस्वत ब्राह्मण थे।

१—देखिए भूषण ग्रंथावली, साहित्य-सेवक कार्यालय, काशी, पृष्ठ १०९।

हरिवंस टंडन—ने नायिकाभेद विषयक 'रसमंजरी' नामक ग्रंथ की रचना भानुदत्त के इसी नाम के संस्कृत-ग्रंथ के आधार पर की। ग्रंथ में रचना-काल तो नहीं दिया है, पर लिपि-काल संवत् १७०६ वि० होने से इसकी और ग्रंथकार की भी प्राचीनता प्रकट होती है। रचयिता के कथनानुसार उनके पिता का नाम सदानंद, पितामह का परमानंद, प्रपितामह का आनंद, वृद्ध पितामह का छज्जमल था।

जयगोविंद वाजपेयी—का 'कविसर्वस्व' नामक ग्रंथ मिला है। इसमें रस, नायिकाभेद, अलंकार, गुण, काव्य-दोष आदि का अच्छा वर्णन है। ग्रंथ से रचना-काल का पता नहीं चलता, पर लिपि-काल संवत् १७६५ वि० है। इससे जान पड़ता है कि रचना और रचनाकार प्राचीन हैं। ग्रंथ की विशेषता यह है कि पद्य में दिए गए लक्षण और उदाहरण पद्य में भी स्पष्ट कर दिए गए हैं। पुष्पिका के अनुसार रचयिता मंडन कवि के पुत्र थे। संभवतः ये मंडन खोज में मिले वे ही मंडन हैं जो बुंदेलखंड के अंतर्गत जैतपुर नामक स्थान के निवासी थे और संवत् १७१६ वि० में वर्तमान थे।[1] इस आधार पर प्रस्तुत रचयिता का समय संवत् १७१६ वि० और संवत् १७६५ (ग्रंथ का लिपि-काल) के मध्य पड़ता है।

राजा जयसिंह—प्रस्तुत खोज में इनके 'काव्यरस' नामक ग्रंथ की एक अपूर्ण प्रति का विवरण लिया गया है। प्राप्तांश में केवल चौथे और पाँचवें अध्याय हैं। इनमें रस और अलंकार का वर्णन है। रचना-काल अज्ञात है। इसका लिपि-काल संवत् १८०२ वि० अन्य ग्रंथ 'उषा चरित्र' के आधार पर माना गया है, जो प्रस्तुत ग्रंथ के साथ एक ही हस्तलेख में लिपिबद्ध है। रचयिता के परिचय के संबंध में विशेष उल्लेख नहीं मिलता। इन्होंने मंडन की 'रसरत्नावली' और जयगोविंद वाजपेयी के 'काव्यसर्वस्व' से उदाहरण दिए हैं, अतः इन्हें अनुमानतः जयपुराधीश महाराज द्वितीय जयसिंह माना गया है।[2]

कलीराम—के 'सुदामाचरित्र' की एक खंडित प्रति मिली है, जिसमें सौभाग्य से कथा-भाग पूरा है। काव्य की दृष्टि से रचना उत्तम है। रचना-काल ज्ञात नहीं है पर लिपि-काल संवत् १७३१ वि० है। कवि ने अपना परिचय पुष्पिका के पश्चात् इस प्रकार दिया है—

इति श्री सुदामाचरित्र लिष्यौ छै मिती मागसिर सुदी १३ सं० १७३१ वि०।

१—देखिए प्राचीन हस्तलिखित हिंदी-ग्रंथों की खोज का त्रैवार्षिक विवरण, १६२०-२२ ई०, संख्या १०३।

२—देखिए जयगोविंद वाजपेयी पर दी गई टिप्पणी।

दोहा

चतुर्वेद माथुर विदित मधुर मधुपुरी धाम।
सुकविन को सेवक सदा 'कलोराम' कवि नाम ॥

इससे अनुमान होता है कि प्रति स्वतः ग्रंथकर्ता द्वारा ही लिखी है।

कुमुटीपाव—ने 'विराटपुराण' के आधार पर 'योगाभ्यासमुद्रा' नामक ग्रंथ रचा है, जिसकी एक खंडित प्रति मिली है। इसमें हठयोग के षट्चक्र, पंचमुद्रा और चौरासी आसनों का वर्णन है। रचना-काल नहीं दिया है, लिपि-काल संवत् १८६७ वि० है। रचयिता का कोई परिचय नहीं मिलता; परंतु इनका नाम सिद्धों के नामों से साम्य रखता है, जैसे—सरहपा, लूहिपा आदि। अतः ये सिद्धों के अंतर्गत आए कुमरिपा विदित होते हैं। लिपिकारों द्वारा 'कुमरिपा' का 'कुमुटीपाव' लिखा जाना असंभव नहीं। रचना संस्कृतमिश्रित प्राचीन हिंदी में है। यदि रचयिता वस्तुतः सिद्धों में से हैं तो रचना हिंदी-गद्य की मूल्यवान् वस्तु है। नीचे गद्य का उदाहरण दिया जाता है—

सर्व चक्र भेद प्रमाण प्रथमे आधार चक्र गुदां स्थानेवसें चतुर्दल कमल पदम रक्त वर्ण प्रभा कमल मध्ये श्रीगनेस देवता विद्यागुणं सिद्धि बुधि सक्ति चत्वारी अषर (? अक्षर) व सं षं स अजपा संख्या षटसत स्वासा ६०० प्रवर्तते। इति आधार चक्र जाप प्रमान बोलीये आधार चक्र पर स्वाधिष्टान चक्र लिंगस्थाने वसें।

ख्वाजा महम्मद फाजिल—द्वारा लिखित धनुर्वेद संबंधी 'तीरंदाजी-रिसाला' नामक ग्रंथ की एक खंडित प्रति मिली है। ग्रंथ खड़ी बोली गद्य में है जो अधिकतर अरबी और फारसी शब्दों से युक्त होते हुए भी अत्यंत सरल और स्वाभाविक है। इसका एक उदाहरण दिया जाता है—

मेरे सलाम करने वा बोलने के पहिले मेरा नाम लेकर तेरा साँचा शौक तिरंदाजी का जानकर तुझको कायदा तिरंदाजी का सिषाएगे पर हमारा बताया हुआ भूलियो मत।

रचना-काल अज्ञात है, लिपि-काल संवत् १८६६ वि० दिया है। रचयिता ख्वाजा महम्मद कासिम के पुत्र और नवाब इफ्तखार खाँ के शिष्य थे। इनके पूर्वज सन् ६५७ हिजरी में हिरात से भारत आए थे। इनका वंशगत व्यवसाय धनुर्वेद था। इन्होंने शालिहोत्र पर भी एक पुस्तक लिखी थी, जिसका उल्लेख प्रस्तुत ग्रंथ में किया है।

राघवदास या राघोदास—ये 'भक्तमाल' के रचयिता हैं। इन्होंने अपने को पीपावंशी और चांडाल गोत्र का बताया है। दादूदयाल की शिष्य-परंपरा के श्री हरिदास जी इनके गुरु थे। ग्रंथ की रचना नाभादास की सुप्रसिद्ध 'भक्तमाल' के अनुकरण पर हुई है। जिस प्रकार वैष्णव धर्म की सगुणधारा में रामानुज, विष्णु स्वामी, माधव और निंबार्क नामक आचार्यों के चार संप्रदाय

हैं उसी प्रकार निर्गुणधारा में भी कबीर, नानक, दादू और निरंजनी नामक चार प्रमुख पंथ माने गए हैं। प्रस्तुत 'भक्तमाल' में इन्हीं चार निर्गुण पंथों में होनेवाले भक्तों का वर्णन विशेष विस्तार से दिया गया है। इनके अतिरिक्त सगुण संप्रदायों के भक्तों, प्राचीन संतों तथा संन्यासियों, योगियों, बौद्धों, यवनों आदि के मतमतांतरों के अनेक श्रेष्ठ भक्तों का गुणगान भी सहृदयतापूर्वक किया गया है। निर्गुण संप्रदायों से संबंध रखनेवाले अधिकांश संतों का परिचय इस ग्रंथ से प्राप्त हो सकता है। ग्रंथ का रचना-काल संवत् १७१७ वि० है तथा लिपि-काल संवत् १९३३ वि०। ग्रंथ की टीका भी है जो रचयिता के ही संप्रदाय के एक संत चतुरदास ने संवत् १८१२ में लिखी थी। रचयिता और टीकाकार की गुरु-परंपरा भी रचना में मिलती है।

उमा—रामसनेही पंथ के प्रवर्तक स्वामी रामचरण के शिष्य रामजन की शिष्या थीं। रामजन ने स्वामी रामचरणकृत 'दृष्टांतसागर' की टीका लिखी, जिसके अनुसार वे संवत् १८३९ वि० में वर्तमान थे। अतः उमा का भी यही समय मानना चाहिए। प्रस्तुत खोज में इनके निर्गुण भक्ति विषयक पद मिले हैं जो विषय की दृष्टि से उच्चकोटि के हैं। पदों की भाषा राजस्थानी है। रचना-काल और लिपि-काल दोनों अज्ञात हैं।

(२)

ज्ञात लेखकों में से अखैराम, बनारसी, गोपेश्वर और रूपरसिक उल्लेखनीय हैं।

अखैराम—के प्रस्तुत त्रिवर्षी में निम्नलिखित चार ग्रंथों के विवरण लिए गए हैं।

(१) मुहूर्त चिंतामणि—ज्योतिष विषयक ग्रंथ, रचना-काल अज्ञात, लिपि-काल संवत् १९३८ वि०।

(२) लघुजातक—ज्योतिष विषयक ग्रंथ, रचना-काल संवत् १८१२ वि०, लिपि-काल संवत् १९२६ वि०।

(३) प्रेमरससागर—वियोग शृंगार का उत्तम काव्य-ग्रंथ है। रचयिता ने इसमें अपनी छाप 'घनस्याम' रखी है जिसकी प्रेरणा इन्हें स्वप्न में राधिका जी से मिली थी। रचना-काल अज्ञात, लिपि-काल संवत् १८९६ वि०।

(४) कृष्णचंद्रिका—'श्रीमद्भागवत' का संक्षिप्त रूप है। इसमें श्री कृष्ण की कथा का विस्तारपूर्वक वर्णन है जिसके अंतर्गत गोलोक, राधाकृष्ण-विवाह तथा वृंदावन का अन्य पुराणों के आधार पर वर्णन है। प्रेम-भाव तथा सुदामाचरित का बहुत ही सरस और मर्मस्पर्शी वर्णन है। इसका 'रस-प्रकाश' नाम से त्रैवार्षिक खोज रिपोर्ट, सन् १९१२-१४ ई० की संख्या २ पर

उल्लेख हुआ है, पर उसमें रचना-काल नहीं दिया है। इस बार रचना-काल का पता लगा है जो संवत् १८११ वि० है।

प्रथम दो ग्रंथों द्वारा रचयिता का परिचय प्राप्त होता है जिनमें निवासस्थान के संबंध में मतभेद है। पहले में 'बेरी नगर' है और दूसरे में 'शेथरी नग्र'। छानबीन द्वारा 'बेरी नगर' ही ठीक ज्ञात होता है। लिपिकार की असावधानी से 'सुबेरी' का 'शेथरी' हो गया जान पड़ता है। मथुरा से दोनों गाँवों की दूरी एक ही दी गई है, जो डेढ़ योजन दक्खिन है। दोनों ग्रंथों के अनुसार रचयिता ज्योतिषी थे और भरतपुर में रहते थे। 'लघुजातक' में इनको गर्ग गोत्री ब्राह्मण और महाराज सूरजसिंह के आश्रित लिखा है। बेरी और उसके पास कठैला गाँवों में, जहाँ से प्रस्तुत ग्रथों के विवरण लिए गए हैं, इनके वंशज अभी तक हैं। इनके वंशज बेरीनिवासी पं० रेवतीनंदन जी ने इनका वंश-वृक्ष भी बताया है जो विवरण में लिख लिया गया है।

सन् १९१७–१९ ई० के त्रैवार्षिक विवरण की संख्या ४ पर; उल्लिखित 'हस्तामलक वेदांत' के रचयिता अखैराम प्रस्तुत रचयिता ही जान पड़ते हैं।

बनारसी जैन—गोस्वामी तुलसीदास के समकालीन आगरे के रहने-वाले थे। इनके कई ग्रंथ पहले भी खोज में मिल चुके हैं। इस बार बिना नाम का एक ग्रंथ मिला है जो अत्यंत जीर्ण तथा खंडितावस्था में है। इसमें प्रहेलिका, कहरानामा की चाली, अजितनाथ के छंद, श्री शांतिनाथ के छद, त्रिभगी, नवसेना विधान, मिथ्यात्वबानी, प्रस्ताविक कर्म, चौदह विद्या, छत्तीस पौन, सप्तमिथ्यात्वदशा, गोरखवचनिका, वैद्य ज्योतिषी, वैष्णव के लक्षण, मुसलमान के लक्षण, गब्वर के नाम, हिंदू मुसलमान ऐक्य और उपदेश, चौदह नेम, वचनिका, निश्चय-व्यवहार का विवरण, आगम अध्यात्म स्वरूप वर्णन, निमित्त, उपादान, रामजिन प्रतिमास्तुति, मूढ शिक्षा, रामायण का आध्यात्मिक वर्णन, परमार्थ हिंडोलना, प्रस्ताव आदि विषय वर्णित हैं। 'अजित नाथ जी के छंद' शीर्षक प्रसंग के अंत में संवत् १६७० वि० का उल्लेख है जिसमें रचयिता के वर्तमान रहने का प्रमाण मिलता है। ग्रंथ में वर्णित विषयों को देखने से इनके अगाध पांडित्य और प्रतिभा का पता चलता है। इन्होंने शैव, बौद्ध, वैदिक, नैयायिक, मीमांसक और जैन मतों को ही षड्दर्शन कहा है तथा कबीर आदि संतों की भाँति सत्यान्वेषण का प्रयास किया है। ग्रंथ में कुछ विषय, जैसे—'विवरण वचनिका' आदि गद्य में लिखे गए हैं जिससे उसका महत्त्व और बढ़ गया है। गद्य बहुत कुछ परिमार्जित रूप में है तथा उचित स्थानों में विरामों का भी प्रयोग हुआ है। ग्रंथ के खंडित होने से लिपि-काल का पता न चला।

नीचे गद्य का नमूना दिया जाता है—

॥ अथवृचनिका ॥

एक जीव द्रव्य ताके अनंत गुन अनंत पर्याय······जीव पिंड की अवस्था याहि भांति । अनंत जीव द्रव्य सपिंड रूप जानने । एक जीव द्रव्य अनंत पुद्गल द्रव्य करि संयोगित मानते । ताको व्यौरो । अन्य अन्य रूप जीव द्रव्य ताकी परनति । अन्य अन्य रूप पुद्गल की परनति । ताको व्यौरो । एक जीव द्रव्य जा भांति की अवस्था लियें नानाकार रूप परिन में सो भाति अन्य जीव सों मिलै नहीं ।

गोपेश्वर—ने अपने बड़े भाई श्री हरिराइ जी कृत 'इकतालीस शिक्षापत्र' की टीका व्रजभाषा गद्य में लिखी है, जिसमें वल्लभ कुल के सिद्धांतों के अनुसार उत्तम शिक्षाएँ हैं। प्रस्तुत खोज में इस ग्रंथ की दो प्रतियाँ मिली हैं जिनमें रचना-काल का कोई उल्लेख नहीं मिलता। एक प्रति में लिपि-काल संवत् १८८६ वि० है। इस बार गोकुलस्थित वल्लभ-संप्रदाय के एक महात्मा श्री वल्लभदास जी से रचयिता के वंश और निवासस्थान के संबंध में ठीक ठीक बातें विदित हुई हैं। इनके कथनानुसार गोपेश्वर जी और हरिराइ जी श्री गोकुलनाथ ठाकुर जी के मंदिर के गुसाइयों के उत्तराधिकारियों में से थे, नाथद्वारा के महंतों में से नहीं जैसा कि संक्षिप्त विवरण के पृष्ठ-सख्या १६६ पर लिखा है। ये श्री वल्लभाचार्य जी के वंशज थे। प्रस्तुत विवरण में इनके वंश-वृक्ष का उल्लेख भी कर दिया गया है।

रूपरसिक—के 'कृपाकल्पतरु' और 'उत्सवमणिमाल' नामक दो ग्रंथ मिले हैं जिनमें राधाकृष्ण की केलिक्रीड़ा का सरस वर्णन है। प्रथम ग्रंथ में—जिसके आरंभ का एक पत्र खंडित है—कुछ रचनाएँ रेखता में भी हैं। दूसरे ग्रंथ के अंत में इन्हीं के रचे 'हरिव्यासदेवजसअमृतसागर' की सवा छह पंक्तियाँ दी हुई हैं जिससे स्पष्ट हो जाता है कि ये निंबार्क संप्रदाय के थे और हरिव्यासदेव जी के शिष्य थे। एक पिछली रिपोर्ट में आए 'वृंदावन-माधुरी' के रचयिता रूपरसिक भी ये ही जान पड़ते हैं।[1]

(३)

जिन ग्रंथों के रचयिताओं का पता नहीं लग सका उनमें से 'श्री कबीरदास जी के पदों की टीका' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसमें १२१ पदों पर टीका है। रचना-काल अज्ञात है, लिपि-काल संवत् १८५५ वि० दिया है।

१—देखिए प्राचीन हस्तलिखित हिंदी-ग्रंथों की खोज का त्रैवार्षिक विवरण, सन् १९०६–८ ई०, संख्या २२२।

समीक्षा

हिंदी एकांकी—लेखक–प्रो० सत्येंद्र एम० ए०। प्रकाशक–साहित्य-रत्न भंडार, आगरा। मूल्य १।।)।

आधुनिक हिंदी-साहित्य में एकांकी नाटकों की अभिवृद्धि देखकर इस विषय पर एक पृथक् ग्रंथ की माँग हो रही थी। प्रो० सत्येंद्र ने इस कमी का अनुभव कर हिंदी के एकांकी नाटकों का इतिहास, विकास, उनके तत्त्वों, उनके विषय में विविध मतमतांतरों आदि का एक ही स्थान पर संकलन करके निश्चय ही श्लाघनीय कार्य किया है जो भविष्य में इस विषय पर कार्य करनेवालों के लिये तो उपयोगी सिद्ध होगा ही, वर्तमान में जिज्ञासुओं के लिये भी उपादेय है। इन्होंने एकांकी नाटकों के इतिहास का विवेचन इस ढंग से किया है कि सभी प्रमुख रचनाकारों और उनकी कृतियों की समस्त प्रवृत्तियों तथा विषयों का संक्षेप में पाठकों को ज्ञान हो जाता है। तत्त्व-विवेचन के लिये इन्होंने एकांकी नाटकों के विभिन्न रचनाकारों के मतों को ही एकत्र कर उनका विवेचन किया है जिससे सबके विचारों का सम्यक् ज्ञान पाठकों को हो सके। किंतु संपूर्ण विचार प्रधानतया रचयिताओं की दृष्टि से ही हो सका है, जब कि किसी भी साहित्यिक कृति का विचार सहृदय का भी ध्यान रखते हुए किया जाता है। आजकल एकांकी नाटकों में विदेशी नकल पर बहुत बड़े बड़े रंग-संकेत रखे जाने लगे हैं। कभी कभी यह भी देखा जाता है कि 'इनमें ही एकांकी की घटना के आरंभ होने से पूर्व के इतिहास का भी उल्लेख इसलिये कर दिया जाता है कि तत्संबंधी संपूर्ण ज्ञान अभिनेताओं और पाठकों को हो सके।' (पृष्ठ १३६) यदि अभिनय का कोई विचार ही न हो तो बात ही दूसरी है अन्यथा यह विचारणीय है कि एकांकी नाटक जब अभिनीत होगा तब यह इतिहास श्रोताओं या दर्शकों को किस भाँति ज्ञात हो सकेगा? यदि यह कहिए कि संचालक आकर पहले कह जा सकता है तो सूत्रधार को हटाने से क्या लाभ हुआ? वह भी तो नाटक का संचालक ही माना जाता था। इस पुस्तक में इस ढंग के विचारों की कमी है। इसी प्रकार प्रस्तुत ग्रंथ में एकांकी नाटकों के विभाजन का आधार भी ठीक नहीं है, यह विदेशी परिपाटी के अनुकरण के कारण लादा हुआ सा प्रतीत होता है। विद्वान् लेखक आलोचना के समय यदि अपने अँगरेजी के ज्ञान के साथ थोड़ा भारतीय ज्ञान का भी मिश्रण कर लेते तो निश्चय ही ग्रंथ इसकी उपादेयता बहुत बढ़ जाती।

पुस्तक में अँगरेजी शब्दों का प्रयोग शोभन नहीं जान पड़ता। इसमें वर्ण-विन्यास संबंधी त्रुटियाँ भी मिलती हैं। जैसे—'पृथक्' को 'प्रथक्' लिखा गया है। पुस्तक में भाषगत दोष भी दृष्टिगत होते हैं। 'अनेकों', 'पद से पद-च्युत होना' आदि इसके प्रमाण हैं। मुद्रण-संबंधी अशुद्धियाँ भी पुस्तक में अधिक हैं।

फिर भी इसमें संदेह नहीं कि 'हिंदी एकांकी' विद्यार्थियों के लिये बहुत काम की पुस्तक सिद्ध हो सकती है। बटेकृष्ण

काल-दहन—लेखक—श्री केदारनाथ मिश्र 'प्रभात'। प्रकाशक—पुस्तक-भंडार, लहेरियासराय और पटना। मूल्य १)।

'काल-दहन' प्रतीकात्मक गीति-नाट्य है। उत्थानमूलक मानवीय मनोभावों को मूर्त रूप देकर इसके कथानक का निर्माण हुआ है। नियतिवाद के विरोध में कर्मवाद की प्रतिष्ठा इसका प्रतिपाद्य है। भारत के पौरुष की मुक्ति तब तक संभव नहीं जब तक वह आशा और विश्वास के सहारे कर्मवाद की ओर लग न जाय। श्वेत वस्त्रधारी बूढ़ा तपस्वी, जिसे अतीत की संज्ञा दी गई है, गांधी जी का प्रतीक है। वह देश में जागर्ति की चिनगारी प्रज्वलित करना चाहता है। गांधीवादी [illegible]ति आभ्यंतर शक्तियों पर अधिक विश्वास करती है। इन्हीं के विकास से पुरुष [illegible]वादी होता है। अंत में जब पौरुष काल दहन (युगांतर उपस्थित करने) की ओर निनाद करता हुआ अग्रसर होता है तब अतीत की साधना पूर्ण होती है। चारों ओर प्रकाश की दिव्य ज्योति प्रकीर्ण होती है।

जहाँ तक विचारों का प्रश्न है युग-धर्म के अनुकूल इसकी उच्चता की प्रशंसा अवश्य की जायगी। कर्मवाद की श्रेष्ठता भारतीय साहित्य में बहुत पहले से स्वीकार की जा चुकी है। कथा-सूत्र शुद्ध सैद्धांतिक होने के कारण अत्यधिक रूखा हो गया है। अंतिम अंक के द्वितीय दृश्य में पौरुष की वाणी पुरुषार्थयुक्त है।

घास-पात—लेखक—श्री हरिशंकर शर्मा। प्रकाशक—रामदास एंड संस, आगरा। मूल्य २)।

'घास-पात' के कवि ने धार्मिक और राजनीतिक कुछ महापुरुषों की गौरव-गाथा के साथ दो एक युग-चित्र भी अंकित करने का प्रयास किया है। जैसे—'हलवाहा और हलधर' और 'घसेरिन'। कविताएँ साधारण तथा सरल हैं। 'घास-पात' का भी अपना महत्त्व है।

प्रेम पत्रावली—लेखक—श्री मदनमोहन गुप्त 'मदन'। प्रकाशक—विद्यार्थी पुस्तक-मंदिर, मुजफ्फरपुर। मूल्य १)।

प्रस्तुत संग्रह में कवि के कुछ प्रेमपत्र संगृहीत हैं। पूर्वराग तथा

संयोग के बाद प्रेमी-प्रेमिका विलग हो जाते हैं। तब एक दूसरे को पत्र भेज-कर अपने प्रेम का रोना-धोना व्यक्त कहते हैं। 'आह! आह! कर, करवट ले-ले, तड़प रहा...।' से ही सारा ग्रंथ भरा पड़ा है। खेद है कि कवि की दृष्टि 'करवटें बदलनेवाले' प्रेम के अतिरिक्त इसके अन्य पक्ष की ओर न गई। भाषा सरल तथा वाच्यार्थ प्रधान है। बच्चनसिंह

अन्नदाता—माधव महाराज महान्—लेखक-पांडेय श्री बेचन शर्मा 'उग्र'। प्रकाशक-मानकचंद बुकडिपो, उज्जैन। मूल्य १)।

उग्र जी ने ग्वालियर नरेश श्रीमंत महाराज माधवराव जी सिंधिया को लपेटकर एक मनोरंजक कथा की सृष्टि कर डाली है। यह नाटकीय कहानी तीन अंकों में विभक्त है। इस रचना की भाषा में एक खास रंग है। एक बार पढ़ देखना चाहिए। अच्छा मनोरंजन होगा। सत्यकाम

इंदीवर—(मोपासाँ की बारह कहानियों का अनुवाद) अनुवादक-श्री अनंतप्रसाद विद्यार्थी, बी०-ए०। प्रकाशक—जीवन ज्योति कार्यालय, इलाहाबाद।

मोपासाँ वर्तमान फ्रांस के प्रसिद्ध और लोकप्रिय साहित्यिक थे। योरप की प्रमुख भाषाओं में उनकी कहानियों का अनुवाद हुआ है। वेलेस आकवे का कहना है कि [illegible]ाँ की कहानियों की चोरी भी अत्यधिक हुई है। [illegible] साहित्य में मोपासाँ की रचनाओं को स्थान प्राप्त है। उनकी रचनाओं में फ्रांस का जीवन-चित्रण ही प्रधान है। इस दृष्टि से प्रस्तुत संग्रह विफल है। कहानियों को पढ़कर स्पष्ट हो जाता है कि इनके कथानक मृत्यु, हत्या, भूत आदि से ही संबद्ध हैं। अनुवाद सुंदर है। कृष्णाचार्य